चिराग़ तले

चिराग़ तले

ख़्वाजा अहमद अब्बास

प्र ग ति प्र का श न

दिल्ली

मूल्य ढाई रुपये

प्रोग्रेसिव पब्लिशर्ज़, ७/२३, दरयागंज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित और
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

श्री कृष्ण दास
और
इलाहाबाद के उन दोस्तों के नाम जिन्होंने
'सरदार जी' के मामले में मेरी बहुत
सहायता की—और मुझे हिन्दी
साहित्य से परिचित
कराया !

सूची

चिराग़ तले अँधेरा

पच्चीस जनवरी की शाम थी और सारे शहर में आज़ादी की दिवाली मनाई जाने वाली थी। हर बड़ी इमारत को बिजली के कुमकुमों के जगमगाते हुए हार पहनाए जाने वाले थे।

घंटा-घर के चारों तरफ लकड़ी की बल्लियों और बाँसों की पाड़ बँधी हुई थी जो दूर से ऐसी लगती थी जैसे किसी राक्षस का पिंजर—जिसकी पसलियाँ और हड्डियाँ शरीर से बाहर निकल आई हैं। और डूबते हुए सूरज की रोशनी में इस राक्षस के चेहरे—यानी घंटा-घर के डायल—पर भी मौत का पीलापन छा चुका था।

काम खतम हो गया था। सब मजदूर काम पूरा कर, अपनी मजदूरी ले, अपने-अपने घर जा चुके थे। अब सिर्फ एक मज़दूर ऊपर रह गया था, जो नीचे से देखने पर ऐसा लगता था जैसे राक्षस के मुर्दा चेहरे पर कोई कीड़ा रेंग रहा हो।

सड़क से सैकड़ों फुट की ऊँचाई पर, पाड़ की बल्लियों में वह बन्दर की तरह टँगा हुआ था। आखिरी बल्ब को उसकी जगह बिठाकर वह साँस लेने के लिए रुका। सामने ही घंटे का राक्षसी चेहरा उसका मुँह चिढ़ा रहा था और उस पर कई फुट लम्बी सुइयाँ एक अनोखी शान से एक-दूसरे का पीछा कर रही थीं। इतने पास से घंटे के चलने की आवाज़ कितनी डरावनी लगती थी, जैसे किसी लाउड-स्पीकर में खुद उसके दिल की धड़कन सुनाई दे रही हो।

नीचे उतरने से पहले उसने एक बार निगाह ऊपर की। बिजली के तारों के गजरे घंटा-घर की चोटी पर लिपटे हुए थे और उनकी लड़ियाँ नीचे तक लटकी हुई थीं! एक मुर्दा राक्षस को सेहरा पहनाकर दूल्हा बनाया जा रहा था। मगर बिजली के फूल खिलने में बहुत देर थी। घंटा-घर की चोटी के ऊपर दो सफ़ेद बादलों के टुकड़े नीले आकाश में तैर रहे थे। और कौवों की एक टोली उसके ऊपर से कांय-कांय करती हुई गुज़र रही थी—उसके इतने पास से कि वह उड़ते हुए कौवों के नर्म काले परों की चमक और उनकी नुकीली चोंचों की धार को देख सकता था, उस हवा के झोंके को अपने मेहनत से तमतमाए हुए गालों पर महसूस कर सकता था जो उनके परों की मार से पैदा हुआ था। एकाएक उसे इस खयाल ने गुदगुदाया कि इस वक्त वह सारे शहर में सबसे ऊँची जगह पर बैठा हुआ है। अमीरों, रईसों, मिल-मालिकों, पूँजीपतियों, नेताओं और अफसरों, राजा-महाराजाओं, संत-साधुओं और विद्वानों—इनमें सबसे ऊँचा स्थान आज उसका है। दो रुपए रोज़ पाने वाले एक मज़दूर का! भला और किसकी हिम्मत हो सकती है कि वह जान पर खेलकर घंटा-घर की चोटी पर यूँ चढ़ जाए?

उसने अपनी गरदन मोड़ी और उसकी निगाह मैदान के पेड़ों की चोटियों और मेरीन ड्राइव के शानदार मकानों की छतों से होती हुई नीले समुद्र तक पहुँच गई जहाँ सूरज की सुनहरी गेंद धीरे-धीरे पानी में डूब रही थी। इतना सुन्दर और शानदार नज़ारा भला और किसी को कभी नसीब हुआ है? यह सोचकर उसने नीचे सड़क की तरफ़ देखा, जहाँ आते-जाते मर्द और औरतें गुड़ियों जैसे लगते थे और मोटरें बच्चों के खिलौने। एक पल के लिए वह यह देखकर मुस्कराया और उसका दिल गर्व से भर उठा। उसे न सिर्फ अपनी हिम्मत और बेजिग्री पर घमंड था, बल्कि अपने गठे हुए मजबूत शरीर के अंग-अंग पर घमंड था—अपने फौलादी हाथों पर और अपने फुर्तीले पैरों पर घमंड, जिनके सहारे वह यहाँ तक चढ़ पाया था। उसे ऐसा लग रहा था कि इस समय

वह दुनिया का सबसे बड़ा, सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे ताकतवर इन्सान है और बाकी सब लोग—ये मोटरों वाले और रेशमी कपड़ों वाले और रंगीन साड़ियों वालियाँ, कोई अर्थ नहीं रखते।

मगर गर्व के साथ-साथ एक बेनाम-सा डर रेंगता हुआ उसके दिल में पहुँच गया और इतनी ऊँचाई से नीचे की तरफ़ देखते-देखते उसका सिर चकराने लगा। जो नीचे जाते हुए उसका पैर फिसल जाय? हाथ की पकड़ ढीली पड़ जाय? गठे हुए, तने हुए पट्ठों की ताक़त एका-एक जवाब दे दे? कोई बल्ली उसके बोझ से टूट जाय या बल्लियों के जोड़ों पर बँधी हुई किसी रस्सी की एक गाँठ खुल जाय?...तो क्या एक पल में उस काली, पथरीली, डरावनी सड़क पर गिरकर उसके इस मज़बूत गठे हुए शरीर के टुकड़े-टुकड़े न हो जायेंगे? दूर नीचे सड़क पर मौत उसका कितनी बेचैनी से इन्तज़ार कर रही थी!

ऐसा डर उसे कई बार पहले भी लगा था, मगर आज डर के साथ-साथ एक नई चेतना भी थी। शहर के सब लोग हँसते-खेलते ज़मीन पर फिर रहे थे, खुशी मना रहे थे। तो वह क्यों बन्दर की तरह इतनी ऊँचाई पर टँगा हुआ है? उसने ही अपनी जान को क्यों खतरे में डाला है? सिर्फ़ दो रुपए के लिए जो ठेकेदार उसे देगा, अगर वह सही सला-मत नीचे उतर गया। नहीं तो दो रुपए भी गए और उसकी जान भी गई। दो रुपए और एक जान! कितनी सस्ती बाज़ी थी। उसकी आँखों के सामने ताश के पत्ते घूमने लगे—इक्के, नहले, दहले, बादशाह, बेग़म और गुलाम—बादशाह और गुलाम, गुलाम और बादशाह। और उसका जी चाहा कि वहीं खड़े होकर चिल्लाने लगे और नीचे आने-जाने वालों से पूछे—'क्यों, आखिर ऐसा क्यों होता है? बादशाहों के लिए रंगरलियाँ और गुलामों के लिए मेहनत, मजदूरी और मौत। कोई अपनी जान को खतरे में डाले, और दूसरे मज़े उड़ायें। कोई घंटा-घर की चोटी पर बन्दर की तरह चढ़कर बल्ब लगाए और कोई बस एक बटन दबाते ही इन लाखों बत्तियों को जगमगाकर यह नई दिवाली

मनाए। यह ऊँच-नीच, यह भेदभाव, यह अन्याय। आखिर क्यों? क्यों? क्यों इस एक शब्द के संघर्ष से उसके दिमाग़ में एक खतरनाक इन्क़लाबी गीत गूँज उठा।

खौफ़ का पल, गुस्से और जोश का पल गुज़र गया। उसकी ज़िन्दगी में न जाने कितनी बार यह पल आया था और गुज़र गया था… और दो टाँग का बन्दर एक बल्ली से दूसरी पर पाँव धरता अपने फ़ौलादी हाथों और मज़बूत टाँगों और गठे हुए पट्ठों के सहारे नीचे उतर आया। सिर्फ एक बार, बस आधे सेकण्ड के लिए, उसका दिल चलते-चलते रुक गया जब पसीने की वजह से बायाँ हाथ एक बल्ली की चिकनी गोलाई पर से फिसला। मगर फ़ौरन ही आप-से-आप उसके दाहिने हाथ की पकड़ मज़बूत हो गई। उसकी बाँहों और टाँगों के पठ्ठे तन गए और उसके नंगे पाँव बिल्ली के पंजों की तरह नीचे की बल्ली में गड़ गए…खतरे का पल भी गुज़र गया और वह नीचे ज़मीन पर उतर आया।

ठेकेदार ने उसे मज़दूरी के दो रुपए दे दिए, मगर मज़दूर कुछ देर ठहरा रहा, वहीं घंटा-घर के सामने। बात यह थी कि उसने सिर्फ दो रुपए के लिए ही अपनी जान ऐसे ख़तरे में न डाली थी। वह एक और इनाम भी चाहता था, और वह उसे मिल गया जब अँधेरा होते ही लाखों रोशनियाँ एकाएक जगमगा उठीं। यह एक नई दिवाली की दीप-माला थी। यह साधारण दीपमाला नहीं थी बल्कि अँधेरे आसमान पर चमकते हुए शब्दों में आज़ादी का ऐलान लिखा हुआ था। लोकराज का आगमन हुआ था और इन लाखों जगमगाती हुई बत्तियों में वह सैंकड़ों बत्तियाँ भी थीं जो उसने अपने हाथ से लगाई थीं। यही उसका इनाम था। उसने सोचा, इस ऐतिहासिक उत्सव में मेरा भी हिस्सा है। यह घंटा-घर, यह सुनहरा संसार, यह सारी रोशनियाँ, यह ज़िन्दगी, यह चहल-पहल, यह आज़ादी, यह लोकराज, यह नया हिन्दुस्तान, यह सब मेरे दम से है—मेरे दम से—मेरे—

मुस्कराता, हँसता, भीड़-भाड़ में से गुज़रता हुआ एक अजीब नशे में चूर वह अपने घर की तरफ चल पड़ा। रेलें, ट्रामें, बसें सब खचा-खच भरी हुई थीं। कोई सवारी मिलनी भी असम्भव थी। सो पैदल ही वह कालबादेवी, भायखाला, लालबाग होता हुआ परेल पहुँच गया। हर सड़क पर भीड़ लगी हुई थी, हर बिल्डिंग नीचे से ऊपर तक रोशनियों से जगमगा रही थी—रोशनियाँ जो उसने या उस जैसे मज़-दूरों ने लगाई थीं, जिनके लिए उस जैसे मज़दूरों ने अपनी जानें जोखों में डाली थीं। सड़क पर लोग रोशनियाँ देखने के लिए निकले हुए थे। वह खुश थे, हँस रहे थे, गा रहे थे। और उसका दिल भी गा रहा था।

परेल के पुल से जब उसने सारे शहर को जगमगाते हुए देखा तो उसने सोचा—यह लाखों करोड़ों रोशनियाँ ऐसी लगती हैं जैसे रात की काली राजकुमारी को मोतिए के सफेद फूलों के गजरे पहना दिए गए हों। और फिर अपने काव्यमय विचारों पर वह खुद ही शरमा-सा गया। मगर उसने सोचा, घर जाकर यह बात अपनी गौरी को बता-ऊँगा। वह यह सुनकर बहुत खुश होगी···

मगर यह बात उसके मन ही में रही और वह गौरी को न बता सका, क्योंकि जिस तंग गली में उनकी चाल थी, वहाँ तो एक गैस की बत्ती अपना मैला बिसूरता हुआ मुँह लिए जल रही थी। सड़कों और बाजारों की जगमगाहट के बाद इस गली की मद्धम रोशनी उसे अँधेरा ही लगी। आँखें झपकाता, रास्ता टटोलता अपनी चाल तक पहुँचा। बदबूदार सीढ़ियों पर घुप अँधेरा था और उन पर चढ़ना उसे घंटा-घर की मचान पर चढ़ने से भी ज्यादा खतरनाक लगा। कई दूसरे कमरों में मिट्टी के तेल की बत्तियाँ धुएँ से घिरी हुई थीं। मगर खुद उसके कमरे में अँधेरा था। उसकी बीवी ने कहा—"आज बाज़ार में तेल नहीं मिला।"

और उस पल में वह काली राजकुमारी के गले में मोतिए के गजरे वाली खूबसूरत लोकोक्ति को भूल गया जो वह रास्ते-भर अपनी पत्नी

को बताने के लिए सोचता आया था। एकाएक उसे उन लाखों-करोड़ों बिजली की बत्तियों का ध्यान आया जो सारे शहर में वह अभी देखता चला आ रहा था। और फिर उसे याद आया कि उनकी अपनी चाल में बिजली की एक भी बत्ती नहीं थी। क्यों? इसलिए कि म्यूनिसिपेलटी का कहना था कि बिजली शहर की सारी जरूरतों के लिए काफ़ी नहीं है, और इसलिए कितनी ही चालों को अँधेरे ही में रहना पड़ेगा।

दूर, बहुत दूर, सारा शहर लोकराज का त्यौहार मना रहा था। करोड़ों रोशनियां आज़ादी और प्रजातन्त्र की घोषणा कर रही थीं। मगर इस चाल के रहने वालों के लिए वे रोशनियां उतनी ही खूबसूरत मगर उतनी ही बेकार थीं जैसे किसी राक्षस के सिर पर जगमगाता हुआ सेहरा······या किसी काली राजकुमारी के गले में मोतियों के गजरे···इतनी दूर थीं जैसे आसमान पर फैले हुए सितारे···मगर वे जानते थे कि एक दिन इन्हीं तारों को तोड़कर ज़मीन पर लाना होगा··· अँधेरी चालों में रोशनी करने के लिए···

शीशे की दीवार

रेस्तरां के अन्दर आर्ट था, सजावट थी, कायदा और कानून था, अजन्ता की तस्वीरें थीं, बुद्ध की संगमरमर की मूर्तियाँ थीं, दक्षिण के मन्दिरों में से चुराए हुए कांसे के बुत थे। अगरदानों से खुशबूदार धुआँ निकल रहा था। चमकती हुई थालियों में पूरियां, चावल और छः तरह की तरकारियां, दाल, रायता, पकौड़ियां, मिठाई। मेहमान खाना खा रहे थे और साथ-साथ भरत-नाट्यम् का नाच भी देख रहे थे। ग्रास चबाने, डकारने और छुरी कांटों, प्लेटों और थालियों के टकराने की आवाजें, घुघरुओं की झंकार के साथ मिलकर एक अनोखा संगीत पैदा कर रही थीं।

रेस्तरां के बाहर शोर था भीड़-भड़क्का था। हज़ारों आदमियों का जमघट था। मेहनत के पसीने की बू थी।

अन्दर एक दुबली-पतली पीले चेहरे वाली निपुण नर्तकी पुराने महलों और मन्दिरों के नाच नाच रही थी—तबले और मृदंग की ताल पर।

बाहर लोग गा रहे थे, शोर मचा रहे थे, सीटियां बजा रहे थे, टीन के कनस्तर पीट रहे थे, नाच रहे थे—तालियों और अपने दिलों की जोशीली धड़कन की ताल पर। सड़क पर, दूकानों के सामने की पटरियों पर, ट्रामों की छतों पर एक जोशीला, बेकायदा नाच जिसका ज़िक्र नृत्य-शास्त्र में कहीं नहीं लिखा।

'अन्दर' और 'बाहर' के बीच बस एक शीशे की दीवार थी जिसमें से नज़र आ सकता था, मगर आवाज़ बाहर न जा सकती थी। 'बाहर' की भीड़ में से कुछ नौजवान इस शीशे की दीवार में से 'अन्दर' झांक रहे थे। मगर जो ड्रामा उन्हें दिखाई दिया उसमें रंगीनी थी; मगर आवाज़ नहीं थी, ज़िन्दगी नहीं थी। शीशे की दीवार में से ऐसा लगता था जैसे साज़ बे-आवाज़ है, नाचने वाली पुराने युग की कोई देवदासी है जिसके घुँघरू हमेशा के लिए ख़ामोश हो चुके हैं और मेज़ों के गिर्द बैठे हुए मेहमान मोटे-ताजे भूत हैं जो आदि से अन्त तक खाते ही रहेंगे।

'अन्दर' ऐश थी, आराम था, बन्द कमरे की गर्मी थी, घुटन थी।

'बाहर' समुद्र की ठण्डी हवा चल रही थी।

'अन्दर' कला और सभ्यता थी।

'बाहर' शोर था, हंगामा था, हलचल थी।

'अन्दर' अगर-बत्तियों और सेन्ट की खुशबू थी।

'बाहर' हज़ारों इन्सानों के पसीने में नहाए हुए जिस्मों की बू थी।

'अन्दर' सुन्दरता थी, व्यवस्था थी—और मौत!

'बाहर' बदसूरती थी, अव्यवस्था थी—और ज़िन्दगी!

और 'अन्दर' और 'बाहर' के बीच सिर्फ एक शीशे की दीवार खड़ी अपने टूटने का इन्तज़ार कर रही थी।

लाल रोशनाई

'डैम !'

लम्बे बालों वाले नौजवान ने ऑक्सफोर्ड के सीखे हुए लहजे में कहा, और अपने चाँदी के सिगरेट-होल्डर से राख झाड़ते हुए लाल चमड़े की जिल्द वाली किताब को तिपाई पर रख दिया—जिसे वह पढ़ नहीं रहा था, बल्कि सिर्फ तस्वीरें देख रहा था। फिर उसने पास रखे हुए गिलास को उठाया, व्हिस्की सोडा का एक घूँट पिया, मखमली सोफे से उठा और नर्म व बढ़िया ईरानी कालीन पर चलता हुआ खिड़की तक पहुंचा।

खिड़की में से उसने एक छिछलती हुई नज़र उस भीड़ पर डाली जो उसके मकान के सामने सड़क पर इकठ्ठी हो गई थी। जहां तक नज़र जाती थी भीड़-ही-भीड़ नज़र आती थी। माटूंगा और माहिम, दादर और परेल, भिंडी बाजार और भुलेश्वर, गिरगाँव और कालबा देवी और न जाने शहर के किस-किस गन्दे कोने से ये लोग चलकर आये थे। परेल के बहुत से मज़दूर खुली हुई बे-छत की मोटर गाड़ियों में खचाखच भरे हुए थे और बेफिक्री से गा रहे थे। 'महात्मा गांधी की जय' और 'पं० जवाहरलाल नेहरू जिन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। आगे कहीं सड़क पर मोटरें रुकी थीं और अब इन्सानों की यह नदी ठहरकर एक समुद्र बनती जा रही थी। मगर भीड़ में किसी को न कोई चिन्ता थी न कोई जल्दी। वे बातें कर रहे थे, मज़ाक कर रहे थे, हँस रहे थे, यूँ ही शोर मचा रहे थे, पीपनियां और सीटियां और बांसुरियां और तालियां बजा रहे थे, टीन के कनस्तरों को पीट रहे थे और कई जोशीले सड़क पर थिरक-थिरक कर नाच भी रहे थे। न जाने क्यों वे होली और दिवाली, ईद और बकरीद से बढ़कर इस प्रजातन्त्र उत्सव को मना रहे थे।

"हुँः! एंग्लो-अमरीकी साम्राज्य के पिट्ठू! डालमिया, बिड़ला के एजेन्ट!" लम्बे बालों वाले नौजवान ने खिड़की बन्द करते हुए

कहा और इस 'क्रान्ति-विरोधी' भीड़ के शोर को अपने इन्कलाबी कानों तक आने से रोक दिया। वह अपनी सजी हुई मेज तक गया और घूमने वाली कुर्सी पर बैठकर सोने का पैन निकाला जिसमें लाल रौशनाई भरी हुई थी, और लिखा—

"आज सारे देश में नए विधान और उसके नामलेवा प्रजातन्त्र के विरोध में गुस्से का एक तूफ़ान उठ रहा है। जनता इस ढोंगी प्रजातन्त्र उत्सव में कोई भाग नहीं ले रही। आज मज़दूर और किसान इस नकली लोक-राज्य को कुचलते हुए, इन्कलाबी नारे लगाते, आगे बढ़ रहे हैं..."

ऐलान

ब्रिटिश क्राउन मिल्स के मालिक सेठ मोटालाल छोटाचन्द ने अपने मिल के सारे मज़दूरों और क्लर्कों को इकट्ठा होने का हुक्म दिया था। आज के दिन वह एक ऐतिहासिक ऐलान करने वाले थे।

भीड़ में कानाफूसी हो रही थी। कोई कहता था, सेठ साहब ऐलान करेंगे कि उन्होंने मज़दूर-संघ की माँगें स्वीकार कर ली हैं और सब की मज़दूरी बढ़ा दी गई है। दूसरे समझते थे कि सेठ मज़दूरी तो नहीं बढ़ाएगा, हां, इस शुभ दिन की खुशी में महीने-दो-महीने का बोनस ज़रूर बांट देगा। और सब सोच और इन्तज़ार में थे कि सुनें, सेठ साहब क्या कहते हैं—

"मज़दूर भाइयो! आज के शुभ दिन जब भारतवर्ष लोक-राज की ओर ऐतिहासिक कदम बढ़ा रहा है, मैं आपको बड़ी खुशख़बरी देना चाहता हूँ जिसको सुनकर, मुझे विश्वास है कि आप सब खुशी से फूले न समायँगे।"

मज़दूरी में बढ़ती?

बोनस?

कई दिन की छुट्टी—मज़दूरी समेत?

इन्तज़ार ! बेचैनी !

सेठ साहब ने ड्रामाई अन्दाज़ में अपना भाषण रोका, अपनी सफ़ेद खद्दर की टोपी को फिर सिर पर जमाया, दो बार खंकार कर गला साफ़ किया, सामने रखे हुए चाँदी के गिलास में से पानी पिया और फिर बोले —"हमारे मिल के सब डायरेक्टरों ने फैसला किया है कि आज के दिन की खुशी में ब्रिटिश क्राउन मिल्स का नाम बदलकर 'स्वतन्त्र भारत मिल्स' कर दिया जाय । इससे बढ़कर आप सब के लिए खुशी की बात भला और क्या हो सकती है ?"

उन्होंने एक पल इन्तज़ार किया कि तालियां बजें, मगर सारी भीड़ पर सन्नाटा छाया था । इसलिए उन्होंने अपना भाषण चालू रखा—

"हाँ, एक बात और कहनी है । जैसा आप खुद सोच सकते हैं मिल का नाम बदलना कोई आसान या सस्ता काम नहीं है । कितने ही साइनबोर्ड नए बनवाने होंगे । नए नाम की रजिस्ट्री करानी होगी । कपड़े के थानों पर लगाने के ठप्पे बदले जायँगे । खत के कागज, लिफ़ाफ़े नये छपवाए जायँगे । इसलिए मुझे अफ़सोस है कि इस साल हम आपको कोई बोनस न दे सकेंगे । मगर मुझे विश्वास है कि इस मिल के देश-भक्त मज़दूर हमारे फ़ैसले को पसन्द करेंगे । जैसा किसी महापुरुष ने कहा है—'इन्सान रोटी ही खाकर नहीं जीता, उसके लिए राष्ट्रीय आदर्श और देश-सेवा का भोजन भी तो चाहिए,' हा हा, हा हा..."

यह कहकर वह अपने मज़ाक पर आप ही ज़ोर से हँसे, मगर उन की समझ में यह नहीं आया कि सब मज़दूर क्यों चुपचाप बैठे रहे ? जैसे उन सब को कोई साँप सूँघ गया हो !

गुण्डा और महागुण्डा

"लोकराज की जय !" गुण्डे ने ज़ोर से नारा लगाया जब उसे बताया गया कि प्रजातन्त्र उत्सव की खुशी में उसे और बहुत-से कैदियों

को छोड़ दिया गया है।

"मैं चला बाहर !" उसने खुशी से वार्डरों को बताया। "वाह री हमारी सरकार, भगवान् करे ऐसे-ऐसे उत्सव रोज़ हुआ करें !"

मगर जब वह जेल के फाटक से बाहर निकला, तो उसने देखा कि एक नये कैदी को अन्दर ले जाया जा रहा है। यह एक दुबला-पतला पीला-सा नौजवान था जो शक्ल से चोर, गुण्डा, डाकू हरगिज़ न लगता था।

"अरे भाई, आज अन्दर जाने का नहीं, बाहर आने का दिन है !" गुण्डा चिल्लाया—"तुम कहाँ चले ?"

"आज तुम्हारे बाहर आने का और मेरे अन्दर जाने का दिन है", नौजवान ने पीली-सी मुस्कराहट के साथ जवाब दिया। "तुमने सिर्फ़ चोरी की थी, भाई, मगर मेरा अपराध तो बहुत बड़ा है।"

गुण्डे ने सोचा, मैं तो सिर्फ़ गुण्डा हूँ, यह महागुण्डा है। फिर उसने नौजवान से पूछा—"क्या है तुम्हारा अपराध ?"

नौजवान ने कहा—"मैं कवि हूँ।"

मज़ाक

प्रेस में रात को भी काम हो रहा था, इसलिए कि कल सवेरे दैनिक का प्रजातन्त्र-दिवस के उपलक्ष में विशेषांक निकलने वाला था। पैंसठ बरस का बूढ़ा कम्पोज़ीटर (जो चालीस बरस तक यह नौकरी करते-करते लगभग अन्धा हो गया था और जो अब अस्सी रुपये माहवार पर अपना और अपने परिवार का पेट पालता था) एक खुश्क-सी हँसी हँसा, जब टाइप लगाते हुए उसने अपनी टूटी हुई कमानी की ऐनक में से सम्पादकीय के अन्त में यह पैरा पढ़ा—

"आज हम यह प्रण करते हैं कि स्वतन्त्र प्रजातन्त्र भारत में न कोई बेकार रहेगा और न कोई भूखा। मज़दूर को उसकी पूरी मज़दूरी मिलेगी और बूढ़ा होने पर वह पेन्शन लेकर आराम कर सकेगा।"

"बत्तियाँ बुझा दो"

भिखारी को गुस्सा आ रहा था।

सारा दिन कितना बुरा कटा था। सड़कों पर इतनी भीड़ थी कि एक भिखारी को भीख मांगने के लिए हाथ फैलाने को भी जगह नहीं थी। और न इस भयानक शोर में कोई उसकी 'भगवान् के नाम पर बाबा' की पुकार सुन सकता था। आधी रात तक हज़ारों आदमी उस सड़क की पटरी से गुज़रते रहे थे, जो बरसों से उसके सोने का कमरा बनी हुई थी। चीथड़ों का वह ढेर जो उसके बिस्तर का काम देता था हज़ारों कदमों से रौंदा जाकर अब खो गया था।

घण्टा-घर दो बजा रहा था जब भीड़ कम हुई और वह अपनी पटरी के पथरीले गद्दे पर लेट सका। मगर अब भी उसके लिए सोना सम्भव नहीं था।

चारों ओर, इधर-उधर, ऊपर-नीचे, आस-पास की सब इमारतों पर लाखों बत्तियाँ बेकार जल रही थीं। इस सारी जगमगाहट का बस एक ही कारण लगता था, कि भिखारी उनकी भयानक चकाचौंध में सो न सके।

गुस्से से काँपता, आँखें मलता वह उठा और चौराहे के बीचों-बीच आकर खड़ा हो गया। उसने नज़र उठाकर उन रोशनियों को देखा जो उसे सोने न दे रही थीं, जो उस पर हँस रही थीं, उसका मज़ाक उड़ा रही थीं। ये रोशनियाँ उसकी दुश्मन थीं। देर तक वह गुस्से-भरी आँखों से उन्हें घूरता रहा। फिर उसने नफ़रत से ज़मीन पर थूका। एक गाली उसकी ज़बान से निकली और सुनसान चौराहे के चारों ओर गूँज गई और सिर उठा कर आकाश के तारों से उसने चिल्लाकर कहा:—

"बुझा दो, ओ भगवान्! इन बत्तियों को बुझा दो!"

दिया जले सारी रात

जहां तक नज़र जाती थी, तट के किनारे-किनारे नारियल के पेड़ों के झुंड फैले हुए थे। सूरज दूर समुद्र में डूब रहा था। और आकाश में रंग-रंग के बादल तैर रहे थे—बादल जिनमें आग के शोलों जैसी चमक थी और मौत की स्याही, सोने का पीलापन और खून की लाली...

त्रावनकोर का तट अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए सारी दुनिया में मशहूर है। मीलों तक समुद्र का पानी ज़मीन को काटता, कभी पतली नहरों के लहरिये बनाता, कभी चौड़ी चकली झीलों की शक्ल में फैलता हुआ चला गया है।

उस घड़ी मुझ पर भी इस सुन्दर दृश्य का जादू धीरे-धीरे असर करता जा रहा था। समुद्र शीशे की तरह शांत था, अगर पश्चिमी हवा का एक हलका सा झोंका आया और समुद्र की सतह पर हलकी-हलकी लहरें ऐसे खेलने लगीं जैसे किसी बच्चे के होंटों पर मुस्कराहट खेलती है। दूर—बहुत दूर—कोई मछेरा बांसुरी बजा रहा था—इतनी दूर की बांसुरी की पतली धीमी तान फैले हुए सन्नाटे को और गहरा बना रही थी।

मेरा नाव वाला भी उस जादू भरे वातावरण से प्रभावित हो रहा था। जैसे ही हमारी लम्बी पतली किश्ती नारियल के झुंडों को पीछे छोड़ती हुई खुले समुद्र में आई, उसने चप्पुओं पर से हाथ हटा लिए।

समुद्र की तरह वह भी ख़ामोश था। किश्ती न आगे जा रही थी, न पीछे—लहरों की गोद में धीरे-धीरे डोल रही थी। वातावरण इतना सुन्दर, इतना शांत, इतना स्वप्निल था कि ज़रा सी हरकत या धीमी सी आवाज़ भी उस समय के जादू को तोड़ने के लिए काफी थी। किश्ती डोल रही थी। किश्तीवाला चुपचाप टिकटिकी बांधे सूरज को डूबते हुए देख रहा था। मैं खामोश था। ऐसा लगता था कि हवा भी सांस रोके हुए है, समुद्र गहरे सोच में है, और दुनिया भी घूमते घूमते रुक गई है...

मैंने पीछे मुड़कर देखा। कोइलोन के शहर को हम बहुत दूर पीछे छोड़ आए थे। अब तो तट के किनारे वाले नारियल के झुंड भी नज़र न आते थे। और दूर से आती हुई ट्रेन की सीटी की आवाज़ ऐसी सुनाई देती थी जैसे किसी दूसरी दुनियां से आ रही हो। ऐसा लगता था जैसे उस छोटी सी किश्ती में बहते-बहते हम किसी दूसरे ही संसार में जा निकले हों। या बीसवीं सदी की दुनिया, उसकी संस्कृति और प्रगति को बहुत दूर छोड़ आए हों और किसी पिछले युग में वापस पहुँच गए हों जब इन्सान कमज़ोर था और प्रकृति के हर तत्व के सामने माथा टेकने पर मजबूर था। यहां समुद्र गहरा था—बहुत गहरा, और आकाश ऊंचा था—बहुत ऊंचा। और समुद्र और आकाश के बीच एक नन्ही सी, कमज़ोर सी, तुच्छ सी किश्ती डोल रही थी और छोटा सा, काला सा और नंगा किश्तीवाला ऐसा लगता था जैसे किसी पुराने ज़माने से भटककर इधर आ निकला हो जब इन्सान ने नाव बनाना और चप्पू चलाना सीखा ही था...

सूरज की अग्नि-गेंद समुद्र की सतह पर एक पल के लिए ठिठकी और फिर धीरे-धीरे पानी में डूब गई—और फिर उसकी आखिरी किरणें भी पश्चिमी आकाश पर गुलाबी पाउडर मलते हुए विदा हो गई। और इसके थोड़ी देर बाद मौत की परछाईं की तरह गहरा अंधेरा आसमान और ज़मीन दोनों पर छा गया।

इतना गहरा अंधेरा कि मेरा दम घुटने लगा। मैं किश्तीवाले से कहने वाला ही था कि कोइलोन वापस चलें कि कुछ देखकर मैं ठिठक गया। वह दृश्य था ही इतना आश्चर्यजनक! हैरानी से मेरा मुँह खुला का खुला रह गया। क्या देखता हूँ कि दूर समुद्र में चिराग बहता हुआ चला जा रहा है।

"वह क्या है ?" अंत में मैंने किश्तीवाले से पूछा।

पीछे मुड़कर उस अनोखे चिराग को देखे बिना ही वह बोला—"अभी आप खुद ही देख लेंगे, साहब!" न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा कि यह कहते वक्त उसकी आवाज कांप रही थी।

वह किश्तीवाला था सचमुच ही अजीब आदमी! शक्ल से न जवान लगता था, और न बूढ़ा। त्रावनकोर में टूटी-फूटी अंग्रेजी तो प्रायः हरएक ही बोल सकता है, मगर वह अच्छी खासी हिन्दुस्तानी भी बोल लेता था। असल में मैंने इसीलिए उसकी छोटी सी किश्ती किराये पर ली थी। एक और वजह भी थी। मैं मुसाफिरों से भरी हुई दूसरी बड़ी-बड़ी किश्तियों में सैर करना न चाहता था; मैं शांति चाहता था, चीख पुकार और हंगामा नहीं। कोई बातूनी किश्तीवाला मिल जाता तो बेकार बकबक से सारा मज़ा किरकिरा कर देता। साहब, यह देखो! साहब, वह देखो! यह लाइट-हाउस देखो! वह टापू देखो! साहब, कितने दिन ठहरोगे? साहब, यहां से कहां जाओगे? साहब, तुम कहां के रहने वाले हो? साहब, बीबी बच्चों को साथ नहीं लाए...? मगर मेरा किश्तीवाला मेरी तरह ही खामोशी-पसंद था। घंटा-भर में उसने मुश्किल से दो-चार बातें की होंगी। चुपचाप बैठा चप्पू चलाता रहा था और इस तमाम अर्से में उसके बारे में सोचता रहा था। वह इतना बूढ़ा तो न था, फिर उसके चेहरे पर ये झुर्रियाँ कैसे पड़ीं? उसकी धँसी आँखों में यह दुःख की परछाईं क्यों थी? वह इतना चुपचाप क्यों था? जैसे ज़िन्दगी से बिलकुल थका हुआ और निराश हो, जैसे दुनिया के सारे सुख-दुःख उस पर गुज़र चुके हों

और अब वह वहाँ पहुँच गया हो जहाँ न दुःख है न सुख है—सिर्फ़ एक गहरी अथाह निराशा है और उदासीनता है·······

हाँ, तो मैंने उससे पूछा—"वह क्या है ?" और उसने पीछे मुड़े बिना जवाब दिया—"अभी आप ख़ुद ही देख लेंगे, साहब !" जैसे उसे पहले ही से मालूम हो कि मैं किस अनोखे दृश्य की तरफ़ इशारा कर रहा हूँ। और फिर उसने मेरी किश्ती को धीरे-धीरे उसी तरफ़ खेना शुरू कर दिया जिधर अँधेरे समुद्र में रोशनी बहती हुई जा रही थी। थोड़ी देर के बाद मैंने देखा कि एक और किश्ती चली जा रही है जिसे एक अकेली औरत खे रही है, और उस किश्ती में एक लालटेन रखी है जिसकी रोशनी दूर से मैंने देखी थी। इतनी रात को अँधेरे समुद्र में वह कहाँ जा रही थी ? और क्यों ? क्या वह सचमुच की किश्ती थी—या केवल मेरी कल्पना की उपज जो उस जादू भरे अँधेरे वातावरण में उभर आई थी।

मैंने देखा कि मेरे माँझी ने अपनी किश्ती को औरत की किश्ती से काफ़ी फ़ासिले पर रखा ताकि हम अँधेरे में छिपे रहें और वह हमें न देख सके। मगर लालटेन की रोशनी के दायरे में वह अच्छी तरह नज़र आ रही थी। एक मैली-सी साड़ी में लिपटी हुई दुबली-पतली औरत थी, मगर उस वक्त चेहरा साड़ी के आँचल में छिपा हुआ था। उसकी किश्ती बीच समुद्र में एक जगह जाकर रुक गई जहाँ एक डूबे हुए वृक्ष का ठूँठ पानी से बाहर निकला हुआ था। समुद्र में थोड़े-थोड़े फ़ासले पर ऐसे कितने ही ठूँठ आसमान की तरफ़ उंगली उठाए खड़े थे; मगर उस वृक्ष पर एक लालटेन बँधी थी जिसमें अब उस औरत ने तेल डाला और फिर दियासलाई जलाकर उसे रोशन किया।

जैसे ही वह लालटेन जली उसकी रोशनी में मैंने उस औरत का चेहरा देखा, जिस पर से आँचल अब ढलक गया था। वह चेहरा आज तक मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसे कभी नहीं भूल सकता। पीला, बीमार चेहरा, पिचके हुए गाल, धँसी हुई आँखें, बाल परेशान और

धूल में अटे हुए। हाथ, जिससे वह लालटेन की बत्ती को ऊँचा कर रही थी, कमज़ोरी से काँप रहा था। मगर उस लालटेन की तरह वह चेहरा भी एक अन्तरप्रकाश से चमक रहा था। पतले सूखे होठों पर मुस्कराहट थी और आँखों में एक अजीब चमक—इन्तज़ार की चमक, आशा की चमक, विश्वास की चमक, ऐसी चमक जो भजन करते समय किसी जोगन की आँखों में हो सकती है, किसी शहीद की आँखों में या किसी प्रेमिका की आँखों में जो अपने प्रेमी से बहुत जल्द मिलने का इन्तज़ार कर रही हो!

ज़रूर वह भी अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में थी। कम-से-कम मुझे इसका यकीन हो गया। मैंने देखा कि उसने अपनी किश्ती घुमाई और जिस ख़ामोशी से आई थी उसी तरह धीरे-धीरे चप्पू चलाती हुई एक टापू की तरफ़ चली गई जहाँ सितारों की रोशनी में माहीगीरों के झोंपड़े धुंधले-धुंधले नज़र आ रहे थे। अब वह गा रही थी, मलयाली ज़बान का कोई लोक-गीत, अनजाना मगर फिर भी जाना-पहचाना जिसके शब्दों को मैं न समझ सकता था मगर ऐसा लगता था जैसे यह गीत मैंने पहले भी किसी और ज़बान में सुना हो।

"वह क्या गा रही है?" मैंने पूछा।

और माँझी ने जवाब दिया—"यह हम लोगों का पुराना गीत है, साहब! औरतें अपने प्रेमियों के इन्तज़ार में गाती हैं। 'मैं सारी रात दिया जलाए तेरी बाट देखती रहती हूँ—तू कब आएगा, साजन?' "

और मुझे अपने हाँ का लोक-गीत 'दिया जले सारी रात' याद आ गया जो हमारे हाँ की औरतें भी ऐसे अवसरों पर ही गाती हैं। क्या सारी दुनिया की स्त्रियों के मन में से एक ही आवाज़ उठती है? मैंने सोचा और फिर माँझी से कहा—"तो इसीलिए वह यहाँ लालटेन जलाने आई थी कि अगर उसका पति या प्रेमी रात को लौटे तो अँधेरे समुद्र में रास्ता न खो बैठे?"

माँझी ने कोई जवाब न दिया।

मैंने फिर सवाल किया—"क्या इसका प्रेमी आज की रात आने वाला है ?"

अँधेरे में माँझी की आवाज़ ऐसे आई जैसे वह किसी बड़े दुःख से बोझल हो—"नहीं, वह नहीं आएगा—न आज रात, न कल रात। वह मर चुका है, कई बरस हुए मर चुका है—"

मैं कुछ समझ न सका और हैरान होकर पूछा—"क्या मतलब ? क्या इस औरत को नहीं मालूम कि उसका प्रेमी मर चुका है और अब कभी न लौटेगा ?"

"वह जानती है—शायद ! मगर वह मानती नहीं। वह अब तक प्रतीक्षा में है—उसने आशा नहीं छोड़ी—"

"और कई बरस से वह हर रात यहाँ आती है और यह लालटेन जलाती है ताकि उसके प्रेमी की किश्ती अँधेरे में रास्ता पा सके !" मैंने कहा, माँझी से नहीं अपने आप से। अब मुझे अनुभव हो रहा था कि आज मैंने अपनी आँखों से अमर प्रेम की झलक देखी है—ऐसा प्रेम जो किस्से-कहानियों में पढ़ने में आता है, ज़िन्दगी में कभी कभार ही मिलता है ! मेरी कहानी-लेखक की चेतनता एकाएक जाग उठी थी, और एक सवाल के बाद दूसरा सवाल करके मैंने माँझी की ज़बानी पूरी कहानी सुन ली।

यह कहानी प्रेम-कहानी भी थी और हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता संग्राम की दास्तान भी ! सन् १९४२ में जब सारे देश में इन्कलाबी तूफ़ान आया, त्रावनकोर की जनता—विद्यार्थी, मज़दूर, किसान—यहाँ तक कि माँझीगीर भी अपने प्रजातन्त्र अधिकारों के लिए विदेशी सरकार के विरुद्ध उठ खड़े हुए। कोइलोन के कई हज़ार माँझियों ने हड़ताल की और ऐलान कर दिया कि काम पर नहीं जायँगे, चाहे इस समुद्र का रंग हमारे खून से लाल ही क्यों न हो जाय।

अनपढ़ माँझी की ज़बान से यह जोशीले शब्द सुनकर मैंने

पूछा—"माँझियों की तरफ़ से यह ऐलान किसने किया था ?"

"उसने, साहब, उसने !"

"कृष्ण ने, साहब ! हम माँझियों का नेता वही तो था ! था तो ज़ात का माँझी और हमारी तरह किश्ती ही चलाता था, मगर स्कूल में पढ़ा हुआ था और कई साल त्रिवेन्द्रम शहर में रहा था जहाँ उसने बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने थे। वह खुद भी नेताओं की तरह भाषण दे लेता था, साहब। बड़ा खूबसूरत और तगड़ा जवान था। कोइलोन से इस टापू तक तीन मील तैरकर अपनी राधा से मिलने आया करता था।"

"कृष्ण और राधा—राधा और कृष्ण ! यह तो बिलकुल कहानी ही बन गई", मैंने हैरानी से कहा।

"असल में उसका नाम राधा नहीं है, साहब। मगर कृष्ण उसे राधा-राधा कहकर ही पुकारता था सो और सब भी उसे राधा ही कहने लगे। राधा और कृष्ण—सब माँझी कहते थे ऐसा सुन्दर जोड़ा दूर-दूर तक ढूँढे न मिलेगा। जब उन दोनों की मंगनी हुई तो सभी बहुत खुश हुए, सिवाय···" और इतना कहकर वह रुक गया और कुछ देर फैली हुई खामोशी में सिर्फ़ उसके चप्पू चलने की आवाज़ आती रही।

"सिवाय ?" मैंने बढ़ावा दिया।

"सिवाय उनके जो खुद राधा को ब्याहना चाहते थे, साहब !" और यह कहकर एक बार फिर वह खामोश हो गया।

"यह राधा····" मैंने बातचीत का सिलसिला फिर चलाने के लिए कहा, "यह राधा, आठ बरस पहले काफ़ी खूबसूरत रही होगी—"

एक ठंडी सांस लेकर वह बोला—"खूबसूरत ? बहुत खूबसूरत, साहब ! आस-पास के गाँवों में क्या, कोइलोन में भी कोई लड़की इतनी सुन्दर नहीं थी। नारियल के पेड़ की तरह लम्बी और दुबली, मछली जैसा सुडौल और चमकदार जिस्म था उसका, और उसकी आँखें—उसकी आँखें ! इस समुद्र की सारी गहराई और सारी खूब-

सूरती थी उनमें…"

मैंने सोचा, कहानी से हटकर हम कवितामय अत्युक्तियों में फँसते जा रहे हैं। मुझे राधा की सुन्दरता के वर्णन में इतनी दिलचस्पी न थी जितनी कृष्ण के अन्त में। इसलिए मैंने "और फिर क्या हुआ ?" कहकर बातचीत का रुख फिर घटनाओं की तरफ़ फेरना चाहा।

"फिर क्या होना था, साहब ? कृष्ण के उस जोशीले भाषण के बाद तो पुलिस उसके पीछे ही पड़ गई। उसके लिए बड़े-बड़े जाल बिछाए उन्होंने, मगर वह उनके हाथ न आया। छिपकर काम करता रहा। पुलिस वाले दिन-भर उसकी तलाश में मारे-मारे फिरते, मगर उन्हें यह नहीं मालूम था कि हर रात को इसी अँधेरे समुद्र में तैरता हुआ वह राधा से मिलने उस टापू तक जाता और सवेरा होने से पहले फिर तैरता हुआ वापस आ जाता। और सब पुलिस का ठट्ठा उड़ाते और कहते, हमारा कृष्ण कभी इन पुलिस वालों के हाथ आने वाला नहीं है।"

"तो सारे माँझी कृष्ण की तरफ़ थे ?"

"हाँ, साहब, सभी उसके साथी थे सिवाय उनके…" और एक बार फिर उसकी ज़बान रुक गई।

"सिवाय किनके ?"

"जो राधा की वजह से उससे जलते थे, साहब—"

"फिर क्या हुआ ?"

"चाँद ढलता गया साहब, और जब अँधेरी रातें आईं तो हर रात को अपने कृष्ण को रास्ता दिखाने के लिए समुद्र के बीच में राधा यह लालटेन जलाने लगी। हर शाम को वह इसी तरह—जैसे वह आज आई थी—किश्ती में इस जगह आती और लालटेन जलाकर वापस हो जाती।"

मैंने पीछे मुड़कर जब अँधेरे समुद्र में इस नन्ही रोशनी को टिम-टिमाते हुए देखा, तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे एक बार फिर यहा-

दूर कृष्ण अपनी मज़बूत बाँहों से पानी को चीरता हुआ अपनी राधा से मिलने चला जा रहा है।

"और फिर क्या हुआ ?"

एक रात राधा ने लालटेन जलाई, मगर वह बुझ गई और जब कृष्ण रात को तैरता हुआ आया तो उसको रास्ता दिखाने के लिए कोई रोशनी न थी।

"क्यों, क्या हुआ ? क्या कोई तूफ़ान आया था ?"

"हाँ, यही समझिए कि एक तूफ़ान आया। मगर यह तूफ़ान एक बेईमान आदमी के मन में उठा था। उसने अपनी कौम को दग़ा दी और लालटेन बुझाकर अपने दोस्त की मौत का कारण हुआ।"

"मगर क्यों ? कोई इन्सान ऐसी कमीनी और बेकार हरकत कैसे कर सकता है ?"

"मुहब्बत के लिए। कम-से-कम वह यही समझता था, साहब ! पर उसकी मुहब्बत अन्धी थी ! मुहब्बत क्या, एक बीमारी थी ! प्रेम नहीं पागलपन था ! वह जानता था कि राधा कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे की तरफ़ देखना भी पसन्द नहीं करती। तो उसने कृष्ण को—अपने दोस्त को—क़त्ल कर दिया···"

"तो कृष्ण डूबा नहीं, क़त्ल किया गया था ?"

"उस रात को लालटेन बुझाना कृष्ण को क़त्ल करने के बराबर ही था, साहब ! पर हत्यारे को यह नहीं मालूम था कि कृष्ण की मौत से उसका कोई भला न होगा—बल्कि उसका भयानक जुर्म भूत बनकर उसके मन में हमेशा मंडराता रहेगा, उसका दिन का चैन और रात की नींद उड़ा देगा···।"

अब हमारी किश्ती कोइलोन की बन्दरगाह के पास पहुँच गई थी और मैं कहानी और उसके सब पात्रों का अन्त जानना चाहता था।

"सो इस रात को कृष्ण डूबकर मर गया। फिर क्या हुआ ?"

"कृष्ण के बग़ैर मांझियों का एका न रहा। पुलिस के डर से

उन्होंने हड़ताल बन्द कर दी।"

"और राधा? जब उसने कृष्ण की मौत की खबर सुनी, तो उसने क्या किया?"

"आज तक उसे कृष्ण की मौत का यक़ीन ही नहीं आया। बात यह है कि कृष्ण की लाश आज तक समुद्र से नहीं निकली, सो आज तक हर शाम को राधा वैसे ही किश्ती में आती है, लालटेन जलाती है, और वापस जाकर रात-भर अपने झोंपड़े के सामने बैठी कृष्ण का इन्तज़ार करती रहती है।"

"और उस ग़द्दार का क्या हुआ? वह पापी जिसने कृष्ण को मौत के घाट उतारा और अपने लोगों और उनके स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ ग़द्दारी की, उसका क्या अन्त हुआ? वह अब क्या करता है?"

मांझी ने मेरे सवाल का कोई जवाब न दिया। पीठ मोड़े, कन्धे और सिर झुकाए वह चुपचाप बैठा चप्पू चलाता रहा, मगर उसकी खामोशी में उसकी दोषी आत्मा की धड़कन थी। उस समय सारे ब्रह्मांड पर सन्नाटा छाया हुआ था—मौत की तरह गहरा सन्नाटा—मगर रेल की सीटी ने मुझे चौंका दिया, मैं उसी रात कोहलोन को विदा कहने वाला था!

किश्ती से उतरने से पहले मैंने एक बार फिर समुद्र की तरफ़ निगाह की। आसमान पर अब हज़ारों सितारे जगमगा रहे थे, मगर एक सितारा अँधेरे समुद्र के बीच में चमक रहा था! यह राधा की लालटेन थी जो रात-भर उसके कृष्ण का इन्तजार करती रहेगी। आज की रात··· और कल की रात···और परसों की रात···राधा के प्रेम की तरह यह सितारा हमेशा चमकता रहेगा! इसलिए कि यह आशा का सितारा है!

आसमानी तलवार

आओ, बेटा, आओ। बाहर बारिश में क्यों खड़े हो? अंदर आ जाओ, नहीं तो सर्दी लगकर बुखार चढ़ जायगा। जब तक पानी पड़ रहा है, तुम गरीब बुढ़िया की झोपड़ी में आराम करो, फिर चले जाना···

भगवान् की लीला न्यारी है, बेटा। जिस बरखा से धरती में जान पड़ती है, बीज कोंपल बनता है, और कोंपल पौदा बनती है, वही बरखा बाढ़ बनकर हज़ारों की जान ले लेती है। जब गंगामाई बिफर जाती है, तो पूरे-पूरे गांवों को बहाकर ले जाती है। यह सब हमारे कर्मों का फल है, और क्या? जैसा बोवोगे, वैसा ही काटोगे। यह थोड़ा ही है कि बीज तो डालो ज्वार के और फसल काटो धान की। संसार में जो कुछ हो रहा है, भगवान् शिव की आंख सब देखती रहती है और जब पाप और अन्याय हद से बढ़ जाते हैं, तो वह आंख एक नजर में सबको भस्म कर डालती है।

यों तो भगवान् के लाखों हथियार हैं—एक-से-एक अनोखे। उसकी लाठी बेआवाज़ है, जब किसी पर पड़ती है तो पता भी नहीं चलता और अपना काम कर जाती है। पर सबसे ज़बर्दस्त हथियार भगवान् ने इन्द्र देवता को सौंप रखा है। और होना भी यही चाहिए, सारे देवी-देवताओं के वह राजा जो ठहरे। देवलोक में उनका ही हुक्म तो चलता है। सत्य की सेना को लेकर राक्षसों से भी उन्हीं को तो

लड़ना होता है। सो ऐसे भयानक दुश्मनों का सामना करने के लिए हथियार भी भयानक होना चाहिए।

यह बिजली जो तुम बादलों में चमकते हुए देखते हो, बेटा, यही इन्द्र देवता की दोधारी तलवार है। इसकी चमक और कड़क बड़ों-बड़ों के दिल दहला देती है। पलक झपकते में अपना काम करके फिर आकाश पर इन्द्र देवता के पास वापस पहुँच जाती है। तभी तो बादलों की गरज सुनते ही पापी कांपने लगते हैं!

इन्द्र देवता की यह तलवार लोहे फौलाद की बनी हुई नहीं है, बेटा। लोहे की तलवार को तो जंग भी लग जाता है, धार खुंडी भी हो जाती है, टूट भी सकती है। पर यह निराला हथियार तो एक अनोखी ही धातु का बना हुआ है। कहते हैं कि एक बड़े पहुंचे हुए ऋषि ने भगवान् की इतनी एकाग्रचित तपस्या की, इतनी तपस्या की कि उनके शरीर का सारा मांस झड़ गया; बस सूखी हड्डियों का ढांचा रह गया। इन पवित्र हड्डियों से, जो हीरे की तरह सख्त और तेज़ और चमकती हुई थीं, भगवान् ने एक तलवार बनाई और वह इन्द्र देवता को सौंप दी कि जहां कहीं पाप और अन्याय को बढ़ता हुआ देखें, इस आसमानी तलवार से उनको नष्ट कर दें।

यह तो तुमने सुना ही होगा, बेटा, कि बिजली काले सांप पर गिरती है। भला क्यों? इसलिए कि ज़हरीले नाग पिछले जन्म में पापी और ज़ालिम थे जिन्होंने दूसरों को डसकर दुःख पहुंचाया और दुनिया में ज़हर फैलाया। उसी की तो यह सज़ा है कि इस बार भगवान् ने उन्हें सांप के रूप में पैदा किया है। मगर बिजली सिर्फ सांपों पर ही नहीं, नीच और गंदे और विष-भरे इन्सानों पर भी गिरती है। भगवान् शिव की आंख उजले कपड़ों, ऊंची पगड़ियों और अमीरी ठाठबाट से धोखा नहीं खाती। वह मन के भीतर की सारी अपवित्रता और खोट को देख सकती है। और जब इन्द्र देवता की तलवार का वार पड़ता है, तो वह ऊंचे-ऊंचे वृक्षों की छाती चीरती हुई पापियों की गर्दन तक

जा पहुंचती है।

तुम लोग पढ़े-लिखे हो, बेटा, एक पागल बुढ़िया की बात क्यों मानोगे। पर मैं भगवान् की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि जो कुछ कह रही हूँ, सब सच है। यह तो अब याद नहीं कितने बरस की बात है, शायद बीस, पच्चीस, तीस बरस हुए होंगे। अब भी इस गांव में बहुतेरे होंगे जिन्हें यह बात याद होगी। और अगर अपनी आंखों देखा सबूत चाहते हो, तो तालाब के परे खेतों के बीच में जो नीम के पेड़ का ठूंठ खड़ा है, वह जाकर देख लो। किसी ज़माने में यह इतना बड़ा और घना पेड़ था कि बीस आदमी भी नीचे खड़े हो जायँ, तो उनपर एक बूँद बारिश की न गिरे। मगर उस दिन से आज तक इसकी शाखाओं में कभी हरियाली नहीं आई, यूंही जला-भुना खड़ा है और आसमान की तरफ उंगली उठाए उस दिन की याद दिला रहा है···

वह बरखा मुझे आज तक याद है। इस बरस से भी कहीं ज्यादा पानी बरसा था। यह कच्ची सड़क जो आगरे वाली पक्की सड़क से हमारे गांव तक आती है, पूरी पानी में डूब गई थी, और आने-जाने वाले खेतों की पगडंडियों पर से आते-जाते थे। हम अछूतों की जो यह बस्ती गांव के बाहर है, यहां कितने ही झोपड़ों की कच्ची ईंटों की दीवारें गिर पड़ी थीं। एक नन्हा-सा बीस-बाईस दिन का बच्चा मर भी गया था···

मुझ बुढ़िया को माफ़ करना, बेटा, मेरी आँखें दुखती हैं तो पानी निकलता ही रहता है। हां, तो उसी बरसात में एक दिन की बात है कि रात-भर की मूसलाधार वर्षा के बाद सुबह-सवेरे पानी ज़रा रुका तो बहुत से गांव वाले जो कई दिन से अपने-अपने घरों में बन्द बेकार बैठे थे, काम-काज को निकल पड़े! कोई खेतों में नलाई करने निकल गया, किसी को पास के कस्बे में कोई काम याद आ गया। सोमवार का दिन था शायद। उस दिन सामने वाले गांव राजापुर में हाट लगती थी, कई एक वहां चले गए। मगर आसमान पर बादल तब भी छाए

हुए थे। बरखा का कोई ठिकाना नहीं, बेटा, कौन जाने कब फिर झड़ी लग जाय। और हुआ भी यही। दो चार घंटे तो खुला रहा, फिर वह घटाटोप छाया कि दिन में रात जैसा अंधेरा हो गया। साथ में घड़ी-घड़ी बिजली ऐसी चमकने लगी जैसे अंधेरे में कोई तलवार चला रहा हो, और बादल ऐसे गरजने लगे जैसे तोपें छुट रही हों। फिर एकदम मूसलाधार बारिश शुरू हो गई, बिल्कुल ऐसी जैसी आज हो रही है।

गांव के कितने ही आदमी बाहर निकले हुए थे। जो कहीं पास ही थे, वे तो भीगते-भागते गांव की तरफ दौड़े। जो दूसरे गांव गए हुए थे, वे वहीं ठहर गए। पर चार आदमी ऐसे थे जो निकले तो थे अलग-अलग, मगर एक-एक करके इसी नीम की छाया में पहुँच गए। या यूं कहो कि उनकी किस्मत उन्हें वहां खींचकर ले आई···

इन चारों में से तुमने तो किसी को क्या देखा होगा, बेटा। उन दिनों तुम तो शायद पैदा भी नहीं हुए थे। फिर भी शायद इनमें से एक का नाम तो सुना होगा। यह जो आजकल हमारे ज़मींदार हैं न, इनका बड़ा भाई था ठाकुर हरनामसिंह। बड़ा तगड़ा और रंगीला जवान था। यह चकला सीना, बड़ी-बड़ी रोबदार मूँछें। शादी नहीं हुई थी, आसपास के ठाकुरों की कितनी ही बेटियां उसके नाम पर कुंवारी बैठी थीं। गांव में कभी घोड़े पर सवार होकर निकल जाता तो लड़कियां उसे किवाड़ों के पीछे छिप छिपकर झांकतीं। ज़बान का भी बड़ा मीठा था, बोलता था ऐसे कि सुननेवाले पर बस जादू हो जाय····

आज न जाने मेरी आखों को क्या हो गया है। बेटा! बहे जा रही हैं···

हां, तो वह था ज़मींदार का बेटा, मगर प्रजा से हमेशा मीठा बोल ही बोलता था। इनाम-अकराम भी बहुत देता था। गांव-भर में सब उसकी इज़्ज़त करते थे। कहते कि जमींदार हो तो हरनामसिंह जैसा हो। शिकार का बड़ा शौक था उसे। उस दिन भी घोड़े पर सवार होकर मुर्गाबियों के शिकार को निकला था, पर झील तक पहुँचा नहीं

था कि बादलों की कड़क से घोड़ा ऐसा बिदका कि भागता-भागता दलदल में जा गिरा। ठाकुर मरते-मरते बचा, मगर घोड़े की टांग टूट गई। बेज़बान जानवर को दुःख से चिल्लाते देखा तो ठाकुर से न रहा गया और उसे गोली मार दी। मैंने कहा न कि वह था बड़ा रहमदिल। उधर से पैदल अपनी कोठी को वापस जा रहा था कि एकदम ज़ोर की बारिश आ गई और भागकर नीम के पेड़ के नीचे शरण लेनी पड़ी, जहां उसके तीन परिचित पहले से खड़े थे।

उनमें एक तो पंडित धर्मदास था। दुबला-पतला, सूखा-सा ब्राह्मण गले में जनेऊ, माथे पर यह बड़ा चन्दन का टीका! सारे गांव में वही सबसे ज्यादा पढ़ा-लिखा बुद्धिमान् था। कहते थे, उसे सारे वेद-शास्त्र ज़बानी याद हैं। हर घड़ी उसे धर्म और समाज की रक्षा ही की धुन लगी रहती थी। यह उसका दम था कि हमारे गांव में अधर्मी और नास्तिक विचार कभी न फैल सके। एक बार कहीं से एक सुधारक आ गया और लगा कहने कि हिन्दुओं को जातपात छोड़कर अछूतों को अपना भाई समझना चाहिए, पर धर्मदास ने नास्तिक और अधर्मी कहकर उसे फौरन गांव से निकलवा दिया। धर्मदास खुद तो विधुर था, मगर उसे गांव की इज़्ज़त-आबरू का बड़ा खयाल रहता था। गांव के किसी लड़के या लड़की को कभी ऐसी-वैसी बात करते देख लेता तो आग बबूला हो जाता और पंचायत से ऐसी कड़ी सज़ा दिलवाता कि फिर किसी की हिम्मत न होती कि वह पाप के रास्ते पर कदम भी रख सके। हां, एक लड़की थी मोलूराम सुनार की अभागिन बेटी चंदा। वह न जाने कैसे पाप के गर्त में गिर पड़ी। उस कलंकिनी ने बिन-ब्याही होकर बच्चा जना था। माता-पिता ने उसे कितना ही मारा और पंचों ने कितना ही समझाया धमकाया, मगर उसने यह न बताया कि बच्चे का बाप कौन है। यही कहे गई कि मैंने पाप किया है, जो सज़ा देनी है मुझे दे दो। सो पंडित धर्मदास के कहने पर चंदा को उसके पाप की निशानी समेत गांव से निकाल दिया गया था। फिर गांव वालों ने सुना

कि उसे गांव के बाहर अछूतों की बस्ती में शरण मिल गई है। और यह सुनकर पंडित ने कहा कि यह कोई अचम्भे की बात नहीं है, क्योंकि भगवान की दृष्टि में पापी और अछूत बराबर ही हैं।

दूसरा, वहाँ पेड़ के नीचे, साहूकार मूलचन्द था जो रहता था राजापुर में, मगर जिससे लेन-देन हमारे गाँव वालों का भी बहुत चलता रहता था। जब भी ज़रूरत पड़े उसके पास चले जाओ, रुपए का प्रबन्ध कर ही देता था। यह और बात है कि ब्याज कड़ा लेता था और पहले बरस का ब्याज तो रकम में से पहले ही निकाल लेता था। मगर सब कहते, "यह तो साहूकारी का नियम ही है, इसका क्या रोना। मूलचन्द बात तो बड़ी भलमनसाहत से करता है और आड़े वक्त काम भी आता है···" वह दीन-धर्म के कामों में हमेशा बढ़ चढ़कर हिस्सा लेता। कथा हो, पूजा हो, पाठ हो, कीर्तन हो, हवन हो—हर बात में सबसे बड़ी रकम चन्दे की उसी से मिलती थी। दान धर्म का उसे बहुत ख़याल रहता था। मोलूराम सुनार की बेटी चंदा को जब गाँव वालों ने निकाल दिया तो मूलचन्द महाजन ने पण्डित को बहुत शाबाश दी और कहा—"पंडितजी, तुमने तो फिर भी नर्मी बरती। हमारे गाँव की कोई छोकरी ऐसा करती तो टाँगें तोड़ देते हम, उसकी टाँगें!" एक और बात मूलचन्द की यह थी कि वह कपड़े हमेशा बड़े ही उजले पहनता था, जैसे अभी धोबी के घर से धुलकर आए हों। महीन मलमल का वेल लगा हुआ कुर्ता, आस्तीनों पर चुन्नट पड़ी हुई, और सफेद चिट्टी धोती। इत्र भी बहुत लगाता था; दूर से पता चल जाता कि महाजन आ रहा है। कहने वाले यह भी कहते थे कि उसका पसीना बड़ा बदबूदार है, इसीलिए इतना सारा इत्र लगाता है। एक दिन किसी ने उससे कहा—"महाजन, यह तुम्हारे कपड़े हर वक्त इतने उजले कैसे रहते हैं? दिन में दो तीन बार बदलते होगे।" इस पर वह हँसकर बोला—"यह धोबी की धुलाई की बात नहीं है, भैया। यह मन की सफ़ाई है। और तुम जानो, मन उजला सो तन उजला, तन उजला सो

मन उजला।"

तीसरा वहाँ रहमत ख़ान पटवारी था, बेटा। अब तो पटवारियों नम्बरदारों की वह पुरानी बात रही नहीं, मगर उन दिनों तो यूँ समझो कि रहमत ख़ान हमारे गाँव का बादशाह जार्ज पंचम, बड़ा लाट, छोटा लाट और कलक्टर साहब, सब-कुछ ही था। ज़मीनों का नापना, दाख़िल-ख़ारिज, सब काम उसी के हाथ से होते थे। गाँव वाले ठहरे अनपढ़, जैसे साहूकार के कहने पर उसके काग़ज़ पर अँगूठा लगा देते थे वैसे ही पटवारी के कहने से स्टाम्पों और सरकारी काग़ज़ों पर अँगूठा लगा देते थे। ज़मीनों के बारे में जो काम भी होता, वह रहमत ख़ान खुशी से कर देता और काम हो जाने पर वे भी उसे खुश कर देते। अब इसे चाहे रिश्वत समझ लो या कुछ और समझ लो, मगर वैसे बड़ा ही शानदार आदमी था। बड़ी लम्बी दाढ़ी थी, रोज़ेनमाज़ का बड़ा पाबन्द था, गाँव की मस्जिद में पाँचों वक्त हाज़िरी देता था। एक बार हज भी कर आया था और इस साल फिर हज को जाने की बात कर रहा था। और इसी-लिए उसे खुश करने के लिए अब किसानों को ज़रा ज्यादा रक़म देनी पड़ती थी। दो बीवियाँ थीं और दोनों को वह बड़ा कड़ा पर्दा करवाता था, ख़ासकर छोटी को, जो मुश्किल से बीस-बाईस बरस की होगी और उम्र में उसकी बेटी लगती थी। जात का पठान था, इसलिए दिमाग ज़रा गर्म था। वैसे भी तगड़ा तो था ही, एक दिन ताव में आकर नूर-बख्श जुलाहे को थप्पड़ मार दिया था, क्योंकि उसने अच्छी तरह खुश नहीं किया था, तो वह तीन दिन खाट पर पड़ा रहा। ऐसे ही एक दिन छुट्टू चमार पर गुस्सा आ गया तो उसे ज़मीन पर दे मारा। मगर ऐसा गुस्सा वह नीच जात वालों के साथ ही बरतता था। ज़मींदार साहब से, पंडितजी से, साहूकार से वह अदब-सम्मान से बात करता था और गाँव में तहसीलदार, नायब तहसीलदार, थानेदार, या कोई दूसरा अफ़-सर दौरे पर आ निकलता तो उनके स्वागत में वह इतनी दौड़धूप करता था कि सब कहते, "अपना पटवारी है बड़ा दिल वाला! और उसकी

पहुँच भी देखो कितने बड़े-बड़े अफ़सरों तक ...''

हाँ, तो ये चारों पेड़ तले खड़े भगवान् से प्रार्थना कर रहे थे कि बारिश रुक जाय। उस दिन गरज चमक भी बहुत ही ज़ोरों पर थी। एक बार बिजली ज़ोर से चमकी तो वे क्या देखते हैं कि सामने पगडंडी पर रुल्दू चमार और वह सुनार की लौंडिया चंदा जिसे उन्होंने गाँव-निकाला दे रखा था, दोनों पानी में सराबोर उस पेड़ की तरफ़ चले आ रहे हैं।

हां बेटा, यह बताना तो मैं भूल ही गई थी कि बूढ़ा रुल्दू चमार था तो जात का अछूत, पर क्योंकि गांववाले सब उससे ही जूते बनवाते थे इसलिए गाँव के सारे बच्चे उसे रुल्दू काका रुल्दू काका कहते थे। जिस दिन चन्दा को गाव से निकाला गया, वह अछूतों की बस्ती में से अपने बच्चे को लिए रोती हुई जा रही थी। रुल्दू ने देखा तो कहा, ''बेटी इस हालत में तू कहां जायगी? जब तक तेरे बाप का गुस्सा ठंडा हो, तू मेरे यहां ठहर जा।'' अंधा क्या चाहे दो आंखें, और डूबते को तिनके का सहारा। सो चन्दा रुल्दू चमार के टूटे-फूटे झोंपड़े में रहने लगी। उसके बाप ने जब यह सुना, तो उसने भी कहा, ''चलो अच्छा ही हुआ। रुल्दू है तो चमार, मगर अपनी जान-पहचान वाला है और वैसे आदमी भी अच्छा है। इधर-उधर मारे-मारे फिरने से तो यही अच्छा है कि चन्दा उसके ही हां रहे।'' मगर बहुत से ऊंची जाति वाले ऐसे भी थे जो कहने लगे कि अछूत के हां रहने से तो अच्छा था, चन्दा झील में डूब कर जान दे देती। और कई बिगड़े दिल नौजवानों का बस चलता तो वे रुल्दू का झोंपड़ा जलाकर राख कर डालते। वह तो बड़े बूढ़ों ने उन्हें रोक लिया, और फिर बारिश भी इतने ज़ोर से हो रही थी कि किसी का बाहर निकलना ही मुश्किल था। जब आसमान फाड़कर इतना पानी बरस रहा है, तो आग कहां लग सकती है?

मैंने कहा न, बेटा, यह सब भगवान की लीला है। बरखा ने रुल्दू

चमार के झोंपड़े को जलने से तो बचा लिया, पर इसी बरखा ने उसकी कच्ची ईंटों की दीवारों को ढा दिया। उस वक्त रुल्दू तो अपनी दुकान में बैठा जूते बना रहा था और चन्दा के बच्चे को सर्दी लगकर बुखार आ रहा था। इस कारण वह पड़ोस की चमारिन के हां कोई दवा मांगने गई हुई थी। झोंपड़े में बस उसका बच्चा ही था अकेला। इतने में अड़ाड़ाधम, पिछवाड़े की दीवार ढहकर छप्पर नीचे आ रहा। रुल्दू और चन्दा दोनों भागे आये, मगर उस समय तक बच्चा मर चुका था। नामुराद नन्हीं सी जान, उसने एक चीख भी तो न मारी! बस, चुपके से जान दे दी। बेटा, मैं सोचती हूँ, चन्दा का बच्चा उस दिन मरा न होता तो आज तुम्हारी उम्र का होता···

अपने मुर्दा बच्चे को देखकर चन्दा की आंखों से एक आंसू भी न निकला। ऐसी हो गई जैसे पत्थर की बनी हुई हो। लोग कहते हैं कि उसने अपने बच्चे के मरने पर रोकर मन की भड़ास नहीं निकाली, इसी कारण उसका भेजा फिर गया और वह पागल ही गई···

न जाने आज मेरी आंखों को क्या हो गया है, बेटा, पानी थमे और तुमसे हो सके तो बाज़ार में बैदजी की दुकान है, वहां से दवा ला देना····

मैं भी कहां से कहां बहक जाती हूँ! हां, तो रुल्दू चमार और कलंकिनी चंदा को इस पेड़ की तरफ़ आते देखकर उन चारों का माथा ठनका।

पंडित धर्मदास ने चिल्लाकर कहा—"रुल्दू! कहां मुँह उठाये चला आ रहा है, वहीं ठहर।"

रुल्दू ठिठका, फिर दूर से हाथ जोड़कर उसने कहा—"पंडितजी दया करो! तूफान बड़ा भयानक है। हम दोनों एक तरफ खड़े हो जायँगे।"

यह कहकर रुल्दू आगे बढ़ने ही वाला था कि धर्मदास ने फिर ललकारा—"बस, बस, एक जरा-सा पेड़ ही तो है। यहां कौनसा

महल खड़ा है जो एक कोने में तुम भी खड़े हो जाओगे ?"

और फिर उसने ठाकुर हरनामसिंह से कहा—"ठाकुर साहब, इन्हें यहां न आने देना चाहिए, नहीं तो हम सब मारे जाएँगे ।"

इस पर पटवारी रहमतअली खान बोला—"क्यों पंडितजी, क्या ख़तरा है ?"

पंडित बोला—"तुम नहीं जानते ख़ान साहब ! धर्म-शास्त्रों में लिखा है कि बिजली पापी और अपवित्र लोगों पर गिरती है । इनमें से एक अछूत है, दूसरी कलंकिनी । अगर ये यहां आ गये, तो समझो साथ में हमारी भी मौत आई ।"

पटवारी बोला—"जल तू जलाल तू, आई बला को टाल तू···· पंडितजी, ऐसा है तो इनको पास भी न फटकने देना चाहिए ।"

"हां, और क्या," महाजन जल्दी से बोला । "जान थोड़े ही देनी है इनके लिए ।"

चन्दा, जो टकटकी बांधे पागलों की तरह ठाकुर हरनामसिंह को घूरे जा रही थी, अब सर्दी के मारे कांपने लगी । उसकी यह हालत देखकर रुल्दू ने एक बार फिर मिन्नत की—"सरकार, लौंडिया को कंपकंपी चढ़ रही है । निमोनिया होकर मर जायगी । इसका बच्चा तो पहले ही झोंपड़े की दीवार के नीचे दबकर मर चुका है ।"

चन्दा अब भी ठाकुर को घूरे जा रही थी, मगर उसने दूसरी तरफ मुँह फेर लिया और अपनी बन्दूक खोलकर उसकी नली में से देखने लगा, जैसे इस बातचीत से उसका कोई सरोकार न हो । और बेटा, था भी ठीक । वह ठहरा ज़मींदार, उसे इन नीच लोगों के मरने-जीने से क्या ?

चन्दा के बच्चे के मरने की सुनकर धर्मदास ने कहा—"चलो अच्छा हुआ, पाप की निशानी दूर हुई ।"

रुल्दू बोला—"हां पंडितजी, जो होना था सो हो चुका । मैं तो इसीलिए चन्दा को इसके बाप के पास ले जा रहा था कि जिन कारणों

से इस बेचारी को घर से निकाला था, वह बच्चा ही नहीं रहा तो अब तो प्रायश्चित कराके इसे घर में रख लें।"

पर महाजन ने हमेशा की तरह अब भी मीठी ज़बान से काम निकालना चाहा। कहने लगा—"वह सब बाद में देखा जायगा, रुल्दू। मगर अब तुम जाओ, कोई और पेड़ तलाश करो। इस पेड़ के नीचे अब कोई जगह नहीं है।"

रुल्दू ने कहा—"साहूकारजी, तुम तो जानो हो, यहां दूर-दूर कोई दूसरा पेड़ नहीं है।"

और महाजन ने उसे बात समझाने के लिए कहा—"रुल्दू, ज़रा सोच-समझ कर बात कर। धर्मशास्त्र के लिखे का तो ख़्याल कर। तुम दोनों पर बिजली गिरने का डर है। अपने साथ क्यों हमारा भी खून करवाते हो? मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं, मगर देखो तो, ठाकुर साहब हैं, यहां के पंडितजी हैं, पटवारी जी हैं······"

इतने में वे क्या देखते हैं, बेटा, कि वह अभागिन चन्दा सर्दी से कांपती, कीचड़ में फिसलती उनकी तरफ बढ़ती चली आ रही है और उसके पीछे-पीछे रुल्दू "चन्दा बेटी, क्या कर रही है? चन्दा बेटी, क्या कर रही है?" कहता हुआ आ रहा है। और उसी समय उनके सामने के बादलों में बिजली ज़ोर से चमकी और इतने ज़ोर का धमाका हुआ कि ज़मीन हिल गई।

पंडित जोर से चिल्लाया—"ठाकुर साहब; बंदूक संभालिए नहीं तो ग़ज़ब हो जायगा। हम सब मारे जाएंगे।"

ठाकुर ने बन्दूक उठाकर कन्धे पर लगाई, मगर उसके हाथ कांप रहे थे। अपनी तरफ बन्दूक का मुँह देखकर चन्दा तो जैसे बिलकुल ही पागल हो गई। चिल्लाई—"तुम तो मुझे पहले ही मार चुके हो ठाकुर! अब बन्दूक चलाना चाहते हो तो यह शौक भी पूरा कर लो। मैं भी अपने बच्चे के पास पहुँच जाऊँ।" और फिर मरी हुई आवाज में उसने कहा—"तुम्हारे बच्चे के पास।"

उसकी ये अजीब बातें सुनकर उन सबको पक्का विश्वास हो गया कि वह पागल हो गई है। दूर बादलों में एक बार फिर गड़गड़ाहट हो रही थी, जैसे बिजली गिरने की तैयारी हो। चन्दा को एक कदम और बढ़ आते देखकर महाजन् चिल्लाया—"सरकार, क्या देखते हैं? चलाइये गोली, नहीं तो यह पगली अपने साथ हमें भी ले मरेगी!"

मगर, बेटा, ठाकुर की बन्दूक नहीं चली। इससे पहले भगवान की तलवार चल गई। अभी वह बन्दूक का घोड़ा दबाने वाला ही था कि ऐसी भयानक चमक हुई जैसे सूरज देवता धरती पर आ गये हों। रुल्दू और चन्दा ने डर के मारे आंखें बन्द कर लीं। एक तड़ाखा हुआ, इतने जोर से तड़ाखा, बेटा, जैसे सैकड़ों तोपें एकदम चली हों। धरती कांप उठी और धमाके से रुल्दू और चन्दा जमीन पर आ रहे। उन्हें विश्वास हो गया कि बिजली उन पर ही गिरी है···

मगर बेटा जिसे भगवान रक्खे, उसे कौन चक्खे? जब उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा कि वह नीम का पेड़ चोटी से लेकर जड़ तक बिजली से जला हुआ है और उसके नीचे चार लाशें झुलसी पड़ी हैं। ठाकुर की बन्दूक अब भी उसके हाथ में थी, मगर उसकी नली पर बिजली गिरी थी और वह गलकर इस तरह मुड़ गई थी जैसे मोम की बनी हुई हो···

तो बेटा, मैं कहती हूँ, इन्द्र देवता की आसमानी तलवार का हम इन्सानों की तलवारें, बन्दूकें भला क्या मुकाबला कर सकती हैं! यह सब हमारे कर्मों का फल है, और क्या? जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे। यह थोड़े ही है कि बीज तो डालो ज्वार के और फसल काटो धान की। संसार में जो कुछ हो रहा है, भगवान शिव की आंख वह सब देखती रहती है। वह उजले कपड़ों, ऊँची पगड़ियों, या अमीरी ठाटबाठ से धोखा नहीं खाती। मन के भीतर की सारी अपवित्रता और सारे खोट को देख सकती है। और सो, जब इन्द्र देवता की तलवार का वार पड़ता है तो वह ऊँचे-ऊँचे दरख्तों की छाती चीरती हुई पापियों की गर्दन तक जा पहुँचती है······

मैंने जो कुछ कहा है, तुम उसे एक पगली बुढ़िया की बड़ समझ रहे हो न, बेटा? तुम सोचते हो कि जब वे सब वहीं मर गये, तो फिर मुझे यह सब हाल कैसे मालूम हुआ? पर मैंने जो कुछ कहा, वह झूठ नहीं है बेटा···

लो, बारिश भी कम हो गई। अब बाहर जाओ तो बाजार में वैद्जी की दूकान पर होते जाना। उनसे कहना, आज मेरी आंखों में से फिर पानी बह रहा है। कोई दवा दे दें। कहना, तुम्हें पगली चन्दा ने भेजा है···

मगर तुम तो पहले ही चले गये, मेरी ऊटपटांग बातों से उकता कर! और लो, तुमने भी मेरी कहानी नहीं सुनी। कोई मेरी कहानी नहीं सुनता। मैं पगली हूँ न···

बारिश थमने तक तो ठहरे होते बेटा!

दीवार

"मेजर रफीक मारा गया !"

"मेजर रफीक मारा गया !"

हर आदमी की ज़बान पर यही शब्द थे। हिन्दुस्तानी सेना के अफसर और सिपाही, गुरेज घाटी के रहने वाले काश्मीरी और वन गांव के लुटे खसुटे मुसलमान शरणार्थी, जो नामधारी मुजाहिदों के हाथों अपने घर-बार, माल-असबाब और अपनी स्त्रियों की लाज गँवा कर आये थे···सब इसी खबर की चर्चा कर रहे थे।

"मेजर रफीक मारा गया !"

दो दिन हुए, हिन्दुस्तानी फौज की एक टुकड़ी ने रात के अंधेरे से लाभ उठाकर नदी के किनारे-किनारे जाकर दुश्मन की एक पहाड़ी चौकी पर छापा मारा था। कई हमलावर मरे थे और कई घायल होकर भाग खड़े हुए थे, जिनमें एक अफसर भी था। आज एक बूढ़ा काश्मीरी किसान, जो उस इलाके में घास काटने के बहाने गया था, यह खबर लाया था कि वह अफसर जो घायल हुआ था, मेजर रफीक ही था और जख्मी होने के चौबीस घण्टे बाद मर गया था। यह खबर उसी ने हमलावर फौज के कई सिपाहियों की जबानी सुनी थी, जो अपने अफसर की मौत पर शोक प्रकट कर रहे थे।

"मेजर रफीक मारा गया !"

इस खबर से सारे कैम्प में हलचल मची हुई थी। हर अफसर

और सिपाही खुश मालूम होते थे। छापा आशा से अधिक सफल हुआ था। जिन छः जवानों ने इसमें भाग लिया था, उनमें से जो पांच जिन्दा आए थे उनको सब बधाई दे रहे थे। छठा एक पिस्तौल की गोली—शायद मेजर रफीक की पिस्तौल की गोली खाकर अपनी जान दे चुका था। पर उसकी मौत का बदला ले लिया गया था। एक मामूली सिपाही के बदले एक अफसर! और अफसर भी मेजर रफीक जैसा होशियार और चालाक, जो युद्ध के प्रत्येक गुर से परिचित था और जिसके बारे में अकसर लोगों की यह राय थी कि पाकिस्तानी फौज के जितने अफसर काश्मीर के मोर्चे पर लड़ रहे हैं उनमें वह सबसे अधिक योग्य—और इसलिए सबसे अधिक खतरनाक था। "मेजर रफीक मारा गया!" कैप्टन रामसिंह ने कमांडिंग अफसर के कमरे में दाखिल होकर सलाम करते हुए कहा। अफसर और सिपाही मिलाकर वह सत्रहवां आदमी था, जिसने यह खबर अपने कमांडिंग अफसर लेफ्टिनेन्ट कर्नल राजेन्द्रसिंह को सुनाई थी।

"सुन चुका हूँ। क्या बटालियन का हर अफसर और हर सिपाही यह खबर अलग-अलग मुझे सुनाएगा?" कर्नल राजेन्द्र का स्वर रूखा और नाराजगी से भरा हुआ था। "माफ कीजिए साहब! भूल हो गई।" कैप्टन ने खटाक से एड़ियां मिलाते हुए सलाम किया और जान बचाकर भागा। न जाने कर्नल इतने खराब मूड में क्यों था?

"मेजर रफीक मारा गया!"

"मेजर रफीक मारा गया!"

"मेजर रफीक मारा गया!"

कर्नल राजेन्द्र दो घण्टे से यही खबर बार-बार सुन रहा था। उसने सोचा—क्या यह सब यह कह-कहकर मुझे चिढ़ा रहे हैं?...नहीं तो इस बार-बार के दोहराने से क्या लाभ? आखिर वे चाहते क्या हैं? क्या एक दोस्त की मौत की खुशी में खड़ा होकर नाचने लगूँ?

दोस्त! हां मेजर रफीक उसका दोस्त था। "नहीं नहीं!"—

उसने सोचा—"रफीक मेरा दुश्मन था। वहशी हमलावरों को साथ लेकर काश्मीर पर हमला करने आया था। हिन्दुस्तानी फौज के मुकाबले में लड़ रहा था। अगर वह मारा गया तो क्या हुआ? उसने अपने किए की सजा पाई। मुझे क्या जरूरत है कि ख्वाहमख्वाह मुँह फुलाकर बैठा रहूं। मुझे तो खुशी होनी चाहिए, हँसना चाहिए। कम-से-कम मुस्कराना तो चाहिए······।"

पर कोशिश करने पर भी उसके चेहरे पर मुस्कराहट के कोई चिन्ह उत्पन्न न हुए। तो क्या उसके दिल में रफीक का प्रेम और दोस्ती का भाव अब तक चोरों की तरह छिपा बैठा था?—अब तक?—उस तमाम खून, तबाही और बरबादी के बावजूद जो रफीक जैसे पाकिस्तानी मुसलमानों के हाथों निर्दोष और निस्सहाय हिन्दुओं पर आई थी? आग के उन शोलों के बावजूद जिनमें राजेन्द्र का घर रावलपिंडी में जलकर खाक हो गया था? उस पाकिस्तानी छुरे के बावजूद जो राजेन्द्र के बूढ़े पिता की पीठ में घोंपा गया था! उन खून की नदियों के बावजूद जो मिलकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच एक पार न की जा सकने वाली खाई बन गई थीं?···नहीं, नहीं, रफीक उसका दोस्त नहीं हो सकता। उसकी मौत पर उसे जरा भी दुःखी न होना चाहिए। उसे खुश होना चाहिए, हँसना चाहिए, कम-से-कम मुस्कराना तो चाहिए। पर बहुत कोशिश करने पर भी उसके चेहरे पर मुस्कराहट के कोई चिन्ह उत्पन्न न हुए···

अपने हृदय की धड़कन में बराबर एक ही आवाज सुनता रहा—रफीक, रफीक, रफीक! और स्मृति की धारा पर बहता हुआ वह बहुत दूर अतीत के भूले हुए काल में खो गया।

रफीक!

यह केवल उसका नाम ही नहीं था बल्कि वह सचमुच राजेन्द्र का रफीक—साथी—था। बचपन का साथी, पड़ोसी और दोस्त। उसके नाम के साथ बचपन की कितनी सुखद स्मृतियां सम्बन्धित थीं।

रावलपिंडी की कालेज रोड पर डाक्टर महेन्द्रनाथ साहनी का बेटा राजेन्द्र और रिटायर्ड सूबेदार मेजर मुहम्मद शफी खाँ का बेटा रफीक, एक साथ पाए जाते थे। जब वे बिलकुल छोटे थे तो और बच्चों के साथ मिलकर अपनी कोठियों के एक ही अहाते में मिट्टी के घरोंदे बनाते, फिर उन्हें ढाते, रंगीन तितलियों का पीछा करते, कच्चे अमरूद तोड़ने के लिए पेड़ों पर चढ़ते, वहां से गिरते, फिर रोते।

रफीक और राजेन्द्र, राजेन्द्र और रफीक।

रफीक इस्लामिया हाई स्कूल में भेजा गया और राजेन्द्र आर्य समाज हाई स्कूल में। किन्तु स्कूल के अतिरिक्त वे सारा समय एक साथ ही बिताते। सिनेमा, सैर व तफरीह, पिकनिक, खेलकूद—हर जगह साथ रहते। राजेन्द्र को डाक के टिकिट जमा करने का शौक था। सूबेदार मेजर साहब के पास उनके पुराने अंग्रेज दोस्तों के खत आते तो बाप लिफाफा भी न खोलने पाता कि रफीक अपने मित्र के लिए लिफाफा झपट लेता और टिकट तुरन्त राजेन्द्र को पहुँचा देता। रफीक को कभी मामूली खांसी-जुकाम की शिकायत हो जाती तो राजेन्द्र तुरन्त पिता के पास पहुँच जाता और उन्हें मजबूर करता कि रफीक को कड़ुए मिक्सचर की जगह वह स्वादिष्ट और बढ़िया चूसने वाली खांसी की गोलियां दें, जिनमें से कभी-कभी वह स्वयं भी एक-आध चख लिया करता था। यह सोचकर बीस वर्ष बाद भी राजेन्द्र अनायास मुस्करा दिया।

राजेन्द्र और रफीक, रफीक और राजेन्द्र।

गवर्नमेंट कालिज में दोनों फिर साथ हो गये। क्रिकेट का दोनों को शौक था। दोनों कालिज की टीम में थे। राजेन्द्र सफल बॉलर था और रफीक रन बनाने में अव्वल नम्बर! मैच और टूर्नामेंट इन दोनों के बलबूते पर ही जीते जाते। पर दोनों एक-दूसरे को छेड़ते। रफीक कहता—"मैंने सेन्चुरी न बनाई होती तो पिटकर आते तुम।" और राजेन्द्र जवाब देता—"जी, और मैंने साठ रन में पांच विकट न लिए

होते तब देखते।" और फिर दोनों एक साथ हँस पड़ते। क्या जमाना था वह भी!

रफीक और राजेन्द्र, राजेन्द्र और रफीक।

सूबेदार मेजर साहब का तो शुरू से ही रफीक को फौज में भेजने का इरादा था। वे चाहते थे कि रफीक मैट्रिक तक पढ़कर वायसराय कमीशन की दरख्वास्त दे दे, किन्तु इस तरह राजेन्द्र का साथ छूटता था। इसलिए लड़-झगड़कर रफीक ने बाप को कालिज की पढ़ाई के लिए राज़ी कर लिया। यह भी समझाया कि बी० ए० होने के बाद बादशाही कमीशन मिलने की सम्भावना अधिक हो जायगी और जमादार के बजाय वह लेफ्टिनेन्ट का पद पा सकेगा। यह बात सूबेदार मेजर साहब की समझ में आ गई और रफीक को राजेन्द्र के साथ और चार साल बिताने का मौका मिल गया।

कालिज के दिन भी क्या बेफिक्री के दिन थे। साल-भर में नौ महीने क्रिकेट खेलते, टूर पर जाते, सैर करते और इम्तहान से तीन महीने पहले पढ़ाई शुरू कर देते। विषय भी दोनों ने एक ही लिए थे। रफीक हिसाब में कमजोर था, राजेन्द्र उसकी मदद करता। राजेन्द्र साहित्य में कमजोर था, रफीक उसे शेक्सपियर और शॉ का महत्व समझाता। गर्मी की छुट्टियां भी साथ ही बिताते। कभी शिमले में राजेन्द्र के मामा के यहां, तो कभी रफीक के फूफा के यहां मरी में। एक बार दोनों मिलकर काश्मीर गए। हाउस बोट में ठहरे। शिकारे में बैठकर डल की सैर की, गुलमर्ग और खिल्लनमर्ग होते हुए अलपत्थर की बर्फीली झील देखने चढ़े। वापिसी पर रफीक ने कहा—"यार मरने से पहले एक बार और आयेंगे।"

बी० ए० के इम्तहान के बाद जब फ़ौज के लिए कम्पिटीशन में बैठने का समय आया तो रफीक ने राजेन्द्र से कहा—"छोड़ो यार, कौन फ़ौज में लैफ्ट-राइट करेगा। हम तुम लाहौर में एम० ए० करेंगे।" राजेन्द्र ने जवाब दिया—"घास खा गया है? मैंने तो तेरी वजह से

फौज में भरती होने की दरख्वास्त दे रखी है और तू दुम दिखा रहा है।" दोनों इम्तहान में साथ ही पास हुए और देहरादून में ट्रेनिंग के बात सेकिंड लेफ्टिनेन्ट नियुक्त हुए।

राजेन्द्र और रफीक, रफीक और राजेन्द्र।

और फिर कुछ दिनों के लिए उनका साथ छूट गया। राजेन्द्र को पूना भेजा गया और रफीक को कोयटा। हर साल गर्मियों में दोनों काश्मीर जाने का इरादा करते मगर दोनों अलग-अलग रेजीमेन्टों में थे। कभी साथ छुट्टी मिलने का मौका ही न मिला। रफीक छुट्टी पाता तो राजेन्द्र व्यस्त होता और राजेन्द्र को छुट्टी मिलती तो रफीक को रेजीमेन्ट में वापस बुला लिया जाता। रफीक लिखता—"यार तुम अकेले ही हो आओ।" राजेन्द्र जवाब देता—"छोड यार, काश्मीर में कौन सुर्खाब के पर लगे हैं। चले चलेंगे किसी और साल।"

सैकन्ड लेफ्टिनेन्ट से लेफ्टिनेन्ट, लेफ्टिनेन्ट से कैप्टन। तरक्की लगभग साथ-ही-साथ मिली। मगर मुद्दत तक एक जगह नियुक्त न हो सके। राजेन्द्र की बदली इलाहाबाद की हुई, तो रफीक की रेजीमेन्ट पूना भेजी गई। राजेन्द्र पूना वापिस हुआ, तो रफीक सिकन्दराबाद में पाया गया। जब रफीक का विवाह हुआ तो राजेन्द्र बरात में जालन्धर न जा सका, किन्तु दो दिन की छुट्टी लेकर हवाई जहाज से रावलपिंडी शादी की दावत में शरीक होने के लिए आया। रफीक की पत्नी पर्दा करती थी, किन्तु रफीक ने माँ से कहा—"और किसी से पर्दा करे या न करे, राजेन्द्र से पर्दा नहीं हो सकता।" माँ ने आज्ञा दे दी—"हाँ हाँ, देवर से पर्दा कैसा?" और राजेन्द्र ने बाहर से चिल्लाकर कहा—"माँ जी, मैं देवर नहीं जेठ हूँ जेठ, यह रफीक तो लौंडा है हमारे सामने का।" सब ठठा लगाकर हँस पड़े, यहां तक कि लाल दुशाले में लिपटी हुई दुल्हन को भी हँसी आ गई। जब राजेन्द्र ने मुँह देखा तो हाथ पर मुँह-दिखाई की एक अशर्फी रखते हुए बोला--"बेचारी बच्ची! अफसोस है, तेरी किस्मत भी किस जांगलू से जोड़ी गई!" और रफीक

ने धौल जमाते हुए कहा—'क्यों बे, प्रोपेगेंडा करता है हमारे खिलाफ ?''

और फिर दोनों दोस्तों में तय हुआ कि रफीक का हनीमून उस समय तक स्थगित रहेगा जब तक राजेन्द्र का भी विवाह न हो जाय। बात उसकी भी पक्की हो चुकी थी और सितम्बर में विवाह की तिथि निश्चित हुई थी। इसके बाद तुरन्त ही दोनों जोड़े हनीमून के लिए इकट्ठे काश्मीर जायँगे। "देख बे, मेरे बिना मत चल देना," राजेन्द्र ने अगले दिन खाना खाते समय याद दिलाया। और रफीक ने कहा—"नहीं यार, अकेले जाने में क्या मज़ा है। पर सितम्बर में महीने भर की छुट्टी का अभी से इन्तजाम कर लेना चाहिए।"

और सितम्बर में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। राजेन्द्र को विवाह स्थगित करना पड़ा क्योंकि उसकी रेजिमेन्ट को तुरन्त मलाया भेज दिया गया। रफीक को ट्रेनिंग के काम पर लगा दिया गया। जब अंग्रेजी फौजें मलाया से पीछे हटीं तो राजेन्द्र बर्मा के मोर्चे पर भेजा गया। इस बीच रफीक अफ्रीका पहुँच चुका था। अलहालमीन की लड़ाई के बाद रफीक मेजर बना दिया गया! कोहीमा के पहाड़ी मोर्चे पर राजेन्द्र को मेजर का पद मिला! दोनों ने अपनी-अपनी जगह नाम पाया! रफीक ब्रिगेड मेजर की हैसियत से फौजी दाँव-पेच (Strategy and Tactics) का विशेषज्ञ माना गया! राजेन्द्र ने गोलों और गोलियों की बौछाड़ में दुश्मन पर जवाबी हमले करके अपने योग्य कमाण्डर होने का प्रमाण दिया!

लड़ाई खत्म होने के कुछ हफ्ते बाद संयोगवश दोनों मित्र दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर मिल गए! रफीक कुछ दिनों के लिए रावलपिंडी होकर आ रहा था और राजेन्द्र शादी के लिए जा रहा था! बहुत कोशिश करने पर भी रफीक को विवाह में सम्मिलित होने की छुट्टी न मिल सकी, क्योंकि उसकी रेजिमेन्ट जापान भेजी जा रही थी! अस्तु, स्टेशन पर वेटिंग-रूम में दोनों मित्र कई वर्ष के बाद मिले तो एक

दूसरे से लिपट गए।

"कहो बेटा, सुना है जापान जा रहे हो! वहां गैशा लड़कियों से बचकर रहना," राजेन्द्र ने रफीक की कमर पर एक धप जमाते हुए कहा।

"क्यों, मुँह में पानी तो भर आया होगा?" रफीक ने जवाब दिया।

एक पुराने और अनुभवी पति की हैसियत से रफीक ने राजेन्द्र को विवाहित जीवन बारीकियाँ समझाईं, और, एक बार फिर यह तय हुआ कि जापान से वापिसी पर दोनों मित्र अपनी-अपनी पत्नियों को साथ लेकर काश्मीर जायेंगे।

"अगर दिसम्बर में भी छुट्टी मिली तो भी जायँगे," राजेन्द्र ने कहा।

"हाँ, हाँ, बर्फ का मजा रहेगा," रफीक बोला।

साथ ही रिफ्रेशमेन्ट रूम में खाना खाया! व्हिस्की के साथ एक दूसरे के नाम पर सेहत के जाम पिए गए! दो तीन पेग के बाद रफीक ने पूछा—"क्यों राजेन्द्र, गोरी चमड़ी के साथ कैसी बीती?"

राजेन्द्र ने एक घूँट पीते हुए जवाब दिया—"सच बताऊँ, मुझे तो दुःख है कि एक-दो मौके मिलने पर भी क्यों न आजाद हिन्द फौज में मिल गया। हम लोग कितनी ही जान लड़ा दें, ब्रिगेडियर और जनरल अंग्रेजों को ही बनाया जाता है। तुम सुनाओ, तुम पर क्या बीती?"

"वही जो तुम पर बीती। जर्मनों से लड़ो, आँधी, गरमी, तूफान, रेगिस्तान का मुकाबला करो और फिर अंग्रेजों की जूतियाँ सीधी करो।"

राजेन्द्र ने चौथे पेग को खत्म करते हुए कहा—"यार, हम इन सालों को निकाल बाहर क्यों नहीं करते?"

रफीक ने पाँचवें पेग में सोडा मिलाते हुए कहा—"खुदा भला करे

हमारे लीडरों का ! इसकी उम्मीद कम ही नजर आती है ।"

राजेन्द्र ने कुछ सोचकर कहा—"यह काम फौज को करना पड़ेगा। ये लातों के भूत बातों से नहीं मानेंगे । क्यों, क्या कहते हो ?"

पाँचवें पेग का अन्तिम घूँट लेते हुए रफीक ने बात के सिलसिले को एक और ही रुख दिया—"तुम्हें काहिरा की एक घटना सुनाता हूँ । जब हमारी रेजीमेन्ट मोर्चे से दो हफ्ते के लिए आराम करने को वहाँ भेजी गई तो हमारा कैम्प शहर के बाहर पिरामिड के पास लगा हुआ था । अच्छा-खासा इन्तजाम था । खेमों की लाइनें दूर तक लगी हुई थीं । और, हर आठ खेमों के बीच पीने और नहाने के लिए पानी के दो नल लगे हुए थे । समझे तुम ? दो नल !"

राजेन्द्र ने छठा पेग उंडेलते हुए कहा—"हाँ हाँ, समझ गया ।"

"तुम खाक नहीं समझे । दो नल ! क्या समझे...? दो नल...! और दोनों पर तख्तियाँ लगी हुई थीं । जानते हो, उन पर क्या लिखा था ? बताओ उनपर क्या लिखा था ?"

"मुझे क्या पता ? तुम ही बताओ न !"

"एक पर लिखा था—'हिन्दुओं के लिए'; दूसरी पर लिखा था—'मुसलमानों के लिए'...क्या समझे ?"

राजेन्द्र ने, जो छः पेग पी चुका था, अपने गिलास को जमीन पर दे मारा—वह चूर-चूर हो गया—"बदमाश कहीं के । सफेद मुँह के बन्दर ।"

रफीक क्यों पीछे रहता । उसने भी अपना गिलास धरती पर दे मारा और बोला—"अब समझे, ये किस तरह हमें अलग-अलग रखते हैं ।"

रिफ्रेशमेण्ट-रूम में बैठे हुए सब लोग और बैरे उन दोनों की ओर देखने लगे । मगर किसी की हिम्मत न पड़ी कि फौजी अफसरों से जा कर उलझे ।

बैरे ने चुपके-से दो और गिलास सामने लाकर रख दिए । सातवां

पेग दोनों में उंडेल दिया गया।

"मगर जानते हो, हमारे हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने—हिंदू, मुसलमान, सिख, राजपूत, पठान, अछूत सिपाहियों ने क्या किया? बताओ क्या किया?" रफीक ने अपने दोस्त से सवाल किया।

"तुम ही बताओ यार।"

"मैं बताता हूँ। उन्होंने उन तख्तियों को उठाकर फेंक दिया। कम-से-कम उस कैम्प में हिन्दू-मुसलमानों का सवाल न आने दिया।"

"शाबाश! हिन्दुस्तानी फौज जिंदाबाद!" राजेन्द्र चिल्लाया—"आओ हम उनके नाम पर जाम पीएँ।"

दोनों ने गिलास उठाए, एक-दूसरे के गिलास से खनकाए और गटगट पी गए। लेकिन फिर रफीक एकदम मुरझा-सा गया। इस बार जरा मन्द स्वर में उसने पूछा—"और फिर जानते हो क्या हुआ?"

राजेन्द्र ने इन्कार में सिर हिलाया।

रफीक ने अपना बयान जारी रखा—"अंग्रेज़ बड़े अफसरों ने उन तख्तियों को फिर से नलों पर लगवा दिया। जब हम हिन्दुस्तानी अफसरों ने विरोध किया तो उन्होंने कहा कि मलिका विक्टोरिया के ऐलान के अनुसार, हिन्दू-मुसलमानों के मज़हबी जज्बात का खयाल रखना उनका फर्ज है। इसलिए धर्म-शास्त्रों और शरीअत पर अमल करते हुए हिन्दू मुसलमान अलग-अलग नलों से पानी पिएँगे।"

राजेन्द्र ने गिलास मेज पर रखते हुए कहा—"और तुम लोगों ने क्या कहा? क्या किया?"

"हमने कुछ नहीं कहा, कुछ नहीं किया। कुछ दिनों में सब अलग-अलग नलों से पानी पीने के आदी हो गए। बल्कि एक बार एक मुसलमान का हाथ भूल से किसी हिन्दू सिपाही की बाल्टी को लग गया तो उसने शोर मचा दिया। खाना पकने का इन्तजाम तो पहले ही अलग-अलग था, अब मुसलमानों ने इसरार किया कि चाय, जो सब के लिए एक जगह बनती थी, वह भी हिन्दुओं के लिए अलग

बने और मुसलमानों के लिए अलग।"

और फिर दोनों पर कई मिनट के लिए उदास खामोशी छाई रही।

राजेन्द्र दाँत भींचकर बोला—"दो नल!"

रफीक मानो नींद से चौंक कर बर्राया—"दो पानी के नल!"

राजेन्द्र ने किसी अनदेखे अंग्रेज को मानो मुँह चिढ़ाते हुए कहा—"यह हिन्दुओं के लिए है।"

रफीक ने नफरत से मुँह बिगाड़कर कहा—"यह मुसलमानों के लिए है।"

"दो नल!" राजेन्द्र ने मानो एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की।

"दो पानी के नल!" रफीक ने 'पानी' पर जोर देते हुए इस घोषणा की पुष्टि की।

फिर दोनों ने आठवाँ पेग पीकर बैरे को आर्डर दिया कि वह और व्हिस्की लाए। इतने में एक मोटा, लाल मुँह का अंग्रेज आया और उनके सामने की मेज़ पर बैठकर अत्यन्त आदेशात्मक स्वर में चिल्लाने लगा—"ब्वॉय! ब्वॉय!"

उसको देखते ही दोनों की आँखें नफरत और गुस्से से लाल हो गईं।

"देखते हो?" राजेन्द्र बोला।

"हूँ!" रफीक गुर्राया।

"हम क्यों इन्हें निकाल बाहर नहीं करते?"

"यही करना पड़ेगा, फौज को यह इन्कलाबी कदम उठाना पड़ेगा।"

और फिर रफीक की ट्रेन का वक्त हो गया था। वह कलकत्ता होता हुआ जापान चला गया था और राजेन्द्र रावलपिंडी। विदा होते समय एक बार दोनों दोस्तों ने फिर वादा किया था कि पहली छुट्टी में दोनों अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर काश्मीर जायँगे।

राजेन्द्र का विवाह धूमधाम से हुआ किन्तु अपने मित्र की अनुपस्थिति में उसे कोई खास मजा न आया। बार-बार उसका जी चाहता

कि रफीक वहाँ हो और उसे और उसकी नई नवेली वधू को छेड़े। फेरे खत्म हुए ही थे कि कलकत्ते से तार आया। रोमन अक्षरों में लिखा था—"दूल्हा मियाँ, शादी मुबारक! तुम्हारा रफीक।" तार पढ़कर राजेन्द्र की आँखों में आँसू आ गए।

उसकी पत्नी ने अगले दिन पूछा—"यह आपके दोस्त रफीक मुसलमान हैं ?"

और राजेन्द्र ने तिनककर जवाब दिया—"वह मुसलमान नहीं है और मैं हिन्दू नहीं हूँ। हम सिर्फ दोस्त हैं।"

फिर वह अपनी पत्नी को अहाते में ले गया था, यह कहता हुआ—"हम दोनों बचपन से साथ खेले हैं, साथ पढ़े हैं, साथ शरारतें की हैं। हमारे कारण हमारे बंगलों के बीच कभी अहाते की दीवार नहीं बनी। हमने बनने ही नहीं······"

उसकी जबान पर वाक्य अधूरा रह गया, क्योंकि उसने देखा कि नई ईंटों की पाँच फुट ऊँची दीवार दोनों बंगलों के बीच खड़ी मानो उसका मुँह चिढ़ा रही थी।

वह दीवार आज भी राजेन्द्र की कल्पना में खड़ी हुई उसका मुँह चिढ़ा रही थी। वह दीवार ऊँची होती गई थी। दो बंगलों के बीच ही नहीं, दो जातियों, दो धर्मों के बीच खड़ी हो गई थी। उस दीवार ने हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बाँट दिया था। फिर भी राजेन्द्र को विश्वास था कि वह उसके और रफीक के बीच कभी न खड़ी हो सकेगी। जब मार्च-एप्रिल में रावलपिंडी के जिले में दंगे हुए तो रफीक का तार जापान से अपने पिता के पास आया कि राजेन्द्र के घरवालों की रक्षा करना उनका फर्ज है। और कई रातें बूढ़े सूबेदार मेजर साहब ने डाक्टर साहनी की कोठी के गिर्द पहरा देते हुए बिता दीं।

३ जून की घोषणा के कुछ ही दिनों बाद जब राजेन्द्र पूना में था उसको एक किताब डाक से मिली। यह "फौजी टैक्टिक्स और स्ट्रैटेजी" (Military Tactic and Strategy) के बारे में थी, जो

रफीक ने स्टाफ कॉलेज के कोर्स के लिए लिखी थी। समर्पण इसी के नाम से था—"राजेन्द्र के नाम, जो एक योग्य सैनिक अफसर होने के अतिरिक्त एक अनमोल मित्र भी है…" राजेन्द्र जानता था कि रफीक युद्ध-कला में प्रवीण है इसलिए उसी समय पन्ने उलटने लगा। एक पृष्ठ पर उसने पढ़ा—

"युद्ध भी पहलवानों की कुश्ती के समान है। केवल ताकत और जोर से ही विजय प्राप्त नहीं हो सकती, दिमाग भी इस्तेमाल करना होता है, चालाकी से भी काम लेना होता है। आधी जीत तो इसी में है कि शत्रु को अचम्भे में डाल दिया जाय। उसे यह न ज्ञात हो सके कि तुम्हारी अगली गतिविधि क्या और किधर होगी। वह यह सोचता ही रहे कि आक्रमण पूर्व से होगा या पश्चिम से, और इस बीच में तुम्हारा आक्रमण उत्तर से हो जाय……."

तीन हफ्ते के बाद रफीक का पत्र जापान से आया—

"प्यारे राजेन्द्र,

"सो जिस घड़ी का खतरा था वह आ पहुँची। हिन्दुस्तान का बँटवारा हो गया, पाकिस्तान कायम हो गया। फौज का भी बँटवारा हो रहा है। मुझसे पूछा गया है कि मैं हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूँ या पाकिस्तान जाना चाहता हूँ। मैं मुसलमान हूँ इसलिए मुझसे आशा की जाती है कि मैं पाकिस्तान की फौज में शामिल हो जाऊँ। लेकिन फिर सोचता हूँ कि तुम्हारा साथ छूट जायगा। उधर माँ-बाप का ख़याल है जो बूढ़े हो चुके हैं और इस उम्र में चाहते हैं कि मैं उनके पास ही रहूँ। तुम सलाह दो कि क्या करूँ…?"

राजेन्द्र रफीक की मानसिक उलझन समझता था। उसने जवाब लिखा—

"जी तो मेरा यही चाहता है कि तुम हिन्दुस्तान में ही रहो,

पर मेरे विचार में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों का भला इसी में है कि तुम्हारे जैसे अच्छे अफसर पाकिस्तानी फ़ौज में रहें। देखने में दो अलग-अलग देशों में रहकर भी हमारी दोस्ती और प्रेम बना रहा तो शायद इसी तरह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान भी दोस्त रह सकें। कौन जानता है, दोनों फौजों को किसी दिन एक होकर तीसरे दुश्मन के खिलाफ लड़ना पड़े......उस दिन वाली बात याद है न? दिल्ली स्टेशन का रिफ्रेशमेण्ट-रूम......।"

पन्द्रह अगस्त। आजादी का दिन। किन्तु राजेन्द्र अपने माता-पिता की ओर से चिन्तित था, क्योंकि सारे पंजाब में मारकाट का बाजार गरम था। न जाने उन पर रावलपिंडी में क्या बीत रही थी। फिर भी थोड़ा सन्तोष था कि रफीक के बाप सूबेदार मेजर साहब उन पर कोई आँच न आने देंगे। दर्जनों तार दिए मगर कोई जवाब न आया। जानने वाले फौजी अफसरों को, जो वहाँ नियुक्त थे, लिखा कि किसी तरह उनके घरवालों को वहाँ से सकुशल निकालकर दिल्ली या हिन्दुस्तान के किसी शहर में हवाई जहाज द्वारा भेज दिया जाय। जवाब आया कि तुम्हारे घरवालों को दिल्ली भेज दिया गया है। छुट्टी लेकर दिल्ली पहुँचा और पता चलाकर मिला। माँ बेटे को गले से लगाकर फूट-फूटकर रोने लगी। राजेन्द्र ने पूछा—"और पिताजी? पिताजी कहाँ हैं?" तब मालूम हुआ कि डाक्टर साहब एक दंगाई के छुरे का शिकार हो चुके थे।

राजेन्द्र की आँखों में खून उतर आया—"और रफीक के बाप सूबेदार मेजर साहब? उन्होंने पिताजी को बचाने के लिए कुछ नहीं किया?"

माँ ने धीरे से समझाया—"बेटा, उन्होंने बहुत-कुछ दौड़-धूप की। हमारी जान और लाज को उन्होंने ही बचाया। पर जब तेरे पिता पर हमला हुआ उस समय उन्हें आने में एक मिनट की देर हो गई...."

"पर क्यों?" राजेन्द्र दुख और क्रोध से चिल्लाया।

"वह बूढ़े आदमी हैं बेटा! सूझ भी कम पड़ता है। उस अहाते वाली दीवार को जल्दी फलाँग न सके।"

वह दीवार! वह ज़ालिम दीवार! वह हत्यारी दीवार! राजेन्द्र की इच्छा हुई कि तुरन्त जाकर उस दीवार की एक-एक ईंट उखाड़ डाले। पर वह रावलपिंडी से बहुत दूर था—बहुत दूर! और रास्ते में उससे भी ऊँची, न दिखाई पड़ने वाली दीवार खड़ी थी।

उसने कोशिश करके अपनी बदली दिल्ली करा ली जिससे माँ के पास रह सके।

कराची से एक तार पूना होता हुआ आया—"मैं जापान से लौट आया हूँ। अपने घर वालों की खबर दो और जालन्धर जाकर अपनी भावज और उसके घरवालों को बचाओ और यहाँ भिजवा दो।

—रफीक"

राजेन्द्र का पुराना बर्मा वाला ब्रिगेडियर जालन्धर में था। वह उसके पास गया और जीप लेकर रफीक की ससुराल पहुँचा। लेकिन घर में पश्चिमी पंजाब से आए हुए हिन्दू-सिख शरणार्थी ठहरे हुए थे। सारे शहर में कोई मुसलमान बाकी नहीं था। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि वे लोग सब एक काफिले के साथ पाकिस्तान चले गए हैं। यही सूचना उसने रफीक को भेज दी। उसको आशा थी कि वे लोग सकुशल पहुँच गए होंगे।

किन्तु कुछ दिनों के बाद रफीक का पत्र मिला। कुछ लाइनें जल्दी में घसीटी हुई थीं—"तुम्हारी भावज पाकिस्तान नहीं पहुँच सकी। न जाने जिन्दा है या मारी गई। दुआ करो कि जिन्दा न हो। तुम पहले ही बिछुड़ गए। अब जिन्दगी में मेरे लिए कोई दिलचस्पी बाकी नहीं रही। सिर्फ पुरानी यादें बाकी रह गई हैं। तुम भी कभी याद कर लिया करना। यह शायद मेरा आखिरी खत हो।"

अगले दिन अखबारों में खबर छपी कि पाकिस्तान की तरफ से कबायली हमलावरों ने काश्मीर पर हमला कर दिया है। और, न

जाने क्यों रफीक से किया हुआ वादा राजेन्द्र को याद आया कि काश्मीर जायँगे तो दोनों साथ ही। हफ्ते-भर के बाद राजेन्द्र की रेजीमेन्ट भी काश्मीर भेज दी गई।

राजेन्द्र बर्मा और आसाम की सीमा पर बड़ी दिलेरी से लड़ा था। किन्तु उस जंग से उसे या दूसरे हिन्दुस्तानी अफसरों को कोई खास दिली लगाव नहीं था। सिर्फ यही लगन थी कि किसी तरह अपनी बहादुरी या होशियारी से दुनिया पर साबित कर दें कि हिन्दुस्तानी फौजी अफसर दुनिया में किसी से कम नहीं है। किन्तु काश्मीर आकर जब राजेन्द्र ने काश्मीरी जनता में साम्प्रदायिक एकता को देखा, उनकी राष्ट्रीय सरकार के प्रगतिशील युवकों से मिला तो उसे ऐसा लगा कि यह युद्ध वह बड़े ऊंचे सिद्धान्तों के लिए लड़ रहा है। आजादी, प्रजासत्ता और एकता के लिए। कभी उसे ऐसा लगता कि वे सब मिलकर उस ऊंची किन्तु दिखाई न देने वाली दीवार को ढाने का यत्न कर रहे हैं, जो नफरत और साम्प्रदायिक विद्वेष की बुनियादों पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच खड़ी की गई है।

पट्टन। बारामूला। महोरा। उरी। टिटवाल। बाँदीपुर। गुरेज।

हिन्दुस्तानी सेनाएँ आगे बढ़ती जा रही थीं और वह दीवार पीछे हटती जा रही थी। राजेन्द्र प्रत्येक मोर्चे पर ऐसी बेजिगरी से लड़ा कि बहुत जल्द मेजर से लेफ्टिनेन्ट कर्नल बना दिया गया। आज वह गुरेज की घाटी में न केवल हिन्दुस्तानी फौज का कमांडिंग आफिसर था बल्कि गुरेज की काश्मीरी जनता में भी अत्यधिक लोकप्रिय था। उसका काफी समय उन सबकी देख-भाल में बीतता। उनकी सेवा करके, उनसे दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित करके न जाने क्यों उसे ऐसा अनुभव होता कि वह उस नफरत की दीवार को ढाने में सफल हो रहा है, जो उसके और रफीक के बीच खड़ी हो गई थी। बहुत जल्द यह दीवार टूट जायगी और बहुत जल्द दोनों मित्र एक बार फिर गले मिल जायँगे।

राजेन्द्र और रफीक, रफीक और राजेन्द्र ।

राजेन्द्र को यह तो ज्ञात था कि हमलावरों के साथ बहुत से पाकिस्तानी सेना के अफसर और सिपाही हैं । वह हर प्रकार के हथियारों से लैस थे और सैनिक टुकड़ियों में संगठित होकर लड़ रहे थे । गुरेज की घाटी से उनको भगा दिया गया था, किन्तु वे अधिक दूर नहीं गए थे । उसको जो सूचनाएँ मिली थीं उनके अनुसार उनका एक गिरोह पूर्व में हव्वा खातून नाम की पहाड़ी के पीछे था और दूसरा गिरोह पश्चिम में किशन गंगा के पार । दोनों ओर से सैनिक गतिविधि की सूचनाएँ आ रही थीं । राजेन्द्र ने दोनों ओर अपनी पहाड़ी चौकियों को सचेत कर दिया था । रात-दिन वे दुश्मन की ताक में रहते थे । नामुमकिन था कि हमलावर गुरेज की घाटी पर फिर से कब्जा करने के लिए एक कदम भी उठा सकें ।

और फिर एक रात अचानक उत्तर की ओर एक तेरह हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर से हमलावारों की एक टुकड़ी ने आक्रमण कर दिया । रात-भर उसे स्वयं अपने सिपाहियों का हाथ बटाना पड़ा और कुछ घंटों के लिए तो वे सारे ही खतरे में पड़ गए । हमलावरों को तो पीछे हटा दिया गया मगर राजेन्द्र के कितने ही आदमी काम आए । रक्षा-पंक्तियों का सारे का सारा नकशा बदलना पड़ा और राजेन्द्र सोच में पड़ गया कि उत्तर से यह आक्रमण हुआ कैसे, जब कि वे समझ रहे थे कि आक्रमण या तो पूर्व से होगा या पश्चिम से...

सहसा उसके मस्तिष्क में याद की एक किरण चमकी और उसने अपना सूटकेस खोलकर एक किताब निकाली जो कपड़ों के नीचे रखी थी । पन्ने उलटने पर ये शब्द उसकी आँखों के सामने थे—

"आधी जीत तो इसी में है कि शत्रु को अचम्भे में डाल दिया जाय । उसे यह न ज्ञात हो सके कि तुम्हारी अगली गतिविधि क्या और किधर होगी । वह यह सोचता ही रहे कि आक्रमण पूर्व से होगा या पश्चिम से, और इस बीच तुम्हारा आक्रमण उत्तर

से हो जाय···"

रफीक !

सिवाय रफीक के यह किसी और का काम नहीं था।

सो रफीक आज उसका दुश्मन था। कुछ ही दिनों में इसकी पुष्टि हो गई। राजेन्द्र का एक कैप्टन दौड़ता हुआ उसके कमरे में आया और बोला—"जनाब, हमारे वायरलेस की लाइन दुश्मन के वायरलेस से मिल गई है। उनका अफसर आपसे बात करना चाहता है···कोई मेजर रफीक···!

अभी उसने वाक्य पूरा नहीं किया था कि राजेन्द्र दौड़कर वायरलेस के कमरे में पहुँच गया।

"हेलो, हेलो, रफीक ! ओवर।"

यह कहकर उसने की (Key) घुमा दी कि उधर से आवाज आ सके। उधर से एक जानी-पहचानी आवाज आई—"क्यों बे राजेन्द्र, बुजुर्गों के मुकाबले में आता है ! अभी तो एक ही पैंतरा दिखाया है। होशियार रहना। ओवर।"

"अच्छा तो फिर मुबारकबाद के साथ एक दोस्ताना तोहफा कबूल करो।" अभी रफीक ने ओवर भी नहीं कहा था कि दूर से एक हलके से धमाके की आवाज आई और उसके चन्द सैकंड के बाद उनसे कोई सौ गज पर उत्तर-पूर्व की ओर एक पच्चीस पौण्ड का गोला गिरकर फटा।

राजेन्द्र वायरलेस पर बोला—"अपने तोपची को निशाना तो सिखा पहले। ओवर।"

रफीक की आवाज़ आई—"निशाना ठीक था। तुम से सौ गज उत्तर-पूर्व की तरफ गिरा है न ! जा माफ किया। तेरी बीवी का खयाल आ गया। बेवा हो जायगी बेचारी।" एक जानी-पहचानी हँसी की आवाज "ओवर" के साथ सुनाई दी और फिर वायरलेस का सिलसिला टूट गया।

रफीक की आवाज; उसके दोस्त की आवाज—मगर नहीं, वह उसका दोस्त नहीं हो सकता। उसका दोस्त अपने सिपाहियों को इस मारकाट और विनाश की कभी अनुमति न देता, जो उन्होंने अपने कब्जे के दिनों में गुरेज की घाटियों में किया था और इसके बाद भी कुछ ही दिन हुए चौरावन गाँव में सैकड़ों घर फूँक कर उनको बेघर कर दिया था। नहीं, यह उसका दोस्त रफीक नहीं हो सकता।

और कुछ रातों के बाद जब उसने रफीक के हेड-क्वार्टर पर रात को हमला करने के लिए अपने छः आदमी भेजे तो उसे जरा भी हिचकिचाहट न हुई। उसे दुश्मन को इस पहाड़ी से जरूर हटाना था, नहीं तो उसकी और उसके सिपाहियों की ही नहीं, गुरेज के प्रत्येक निवासी की जान खतरे में थी क्योंकि वहाँ से ही दुश्मन की हलकी तोपें दिन-भर लगातार गोले बरसा रही थीं।

रात का हमला सफल रहा था। रफीक मारा गया था। उसने अपने किए का फल पाया था। युद्ध में भावुकता का क्या काम? यदि तुम चूक गए तो मारे गए। उसे रफीक की मृत्यु का कोई दुःख न होना चाहिए। किन्तु उसे दुःख था। क्योंकि यह एक दोस्त की ही मौत नहीं थी, दोस्ती की मौत थी। बचपन और जवानी की सुखद यादों की मौत थी, एकता की मौत थी। रफीक की मृत्यु के बाद राजेन्द्र को ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो अब कोई हिन्दू और मुसलमान आपस में कभी दोस्त न बन सकेंगे। और इस भाव ने उसके हृदय में एक विचित्र शून्य-सा पैदा कर दिया था। क्या यह कभी पूरा न हो सकेगा? रफीक के बिना राजेन्द्र का अस्तित्व, उसका जीवन अधूरा था। राजेन्द्र का हृदय एक अथाह निराशा के सागर में धीरे-धीरे डूबता जा रहा था।

"जनाब!"

एक आवाज ने उसे चौंका दिया। डूबने से बचा लिया।

"जनाब!"

खाकी वर्दी पहने हुए एक नौजवान उसे फौजी सलाम कर रहा था।

अवश्य ही यह भी अब "मेजर रफीक मारा गया" कहकर उसको चिढ़ायगा।

"क्या है ?" राजेन्द्र ने फिर 'लेफ्टिनन्ट कर्नल राजेन्द्र' बनते हुए तनिक कठोरता से पूछा।

"जनाब ! मैं मिलीशिया के हेडक्वार्टर से भेजा गया हूँ। गुरेज में मिलीशिया का एक जत्था बनाने के लिए।"

"मिलीशिया ?"

"जी जनाब, काश्मीर नैशनल मिलीशिया।" नौजवान की आवाज में एक अजीब जोश था, एक अजीब बेचैनी। "यहाँ के गाँव वाले अपना एक हिफाजती दस्ता बनाना चाहते हैं···।"

"हाँ हाँ, मैं समझा। तुम्हारा नाम क्या है ?

"जनाब, मेरा नाम है रफीक"

"क्या नाम बताया तुमने ?"

"रफीक। मुहम्मद रफीक। मैं जनाब श्रीनगर कॉलेज में पढ़ता था······"

नौजवान उसे बता रहा था कि उसका बाप शाल पर कढ़ाई का काम करता था और नैशनल कॉन्फरेन्स का पुराना कार्यकर्ता था। उसका बाप दो बार जेल जा चुका था। बड़ी कठिनाई से उसका बाप उसे कॉलेज में भेजने का खर्च उठा सका था। किन्तु कबायली हमले के बाद वह कॉलेज की पढ़ाई छोड़कर मिलीशिया में भर्ती हो गया था। तीन बार मोर्चे पर लड़ चुका था। एक बार घायल भी हुआ था···

किन्तु राजेन्द्र के दिमाग में कोई और ही आवाज गूँज रही थी। मानो वह कह रहा हो—

"मैं रफीक हूँ, रफीक। सूबेदार मेजर शफी मुहम्मद खाँ का बेटा—तुम्हारा दोस्त—तुम्हारा बचपन का साथी····याद है जब मुझे खाँसी होती थी तब तुम अपने पिता जी से मेरे लिए मीठी-मीठी चूसने की गोलियाँ लाया करते थे, याद है हम रावलपिंडी में क्रिकेट खेला करते

थे। तुम बड़े अच्छे बॉलर थे और मैं बैटिंग में फर्स्ट···लेकिन अगर मैं हर मैच में सेन्चुरी न बनाता तो तुम्हारी बाउलिंग किस काम आती?···फिर वह देहरादून एकेडमी का जमाना याद है?····और वह मेरी शादी?···शादी के कपड़ों में मैं कैसा बुद्धू लगता था? और कितनी हँसी हुई थी जब तुमने अपनी भावज का मुँह देखकर कहा था—"बेचारी बच्ची! अफसोस है! तेरी किस्मत भी किस जाँगलू से जोड़ी गई·········" पर यार, मुझे अफसोस है मैं तुम्हारी शादी में न आ सका, नहीं तो पूरा बदला उतारता। और भाभी को खूब–खूब छेड़ता···और देहली के रिफ्रेशमेन्ट-रूम की घटना याद है?····बहुत पी गए थे उस दिन हम···कितनी धमा-चौकड़ी मची थी। मगर असल में उस लाल मुँह वाले अँग्रेज को देखकर गुस्सा आ गया था···साला! उसकी चलती तो हम दोनों को शराब भी अलग-अलग 'हिन्दू मुसलमान' बोतलों से मिलती····और वह मेरी किताब तो मिल गई होगी···कितनी बार वादा किया था कि दोनों अपनी-अपनी बीवियों को साथ लेकर काश्मीर चलेंगे। और तुम आए भी तो अकेले। बीवी को साथ क्यों नहीं लाए? मैं तो जरूर लाता···पर तुम जानते हो···!"

वह काश्मीरी नौजवान बोले जा रहा था—"जनाब, हमें यकीन है कि आप बहादुर अफसरों से हम बहुत-कुछ सीख सकेंगे और काश्मीर भी अपनी नैशनल जम्हूरी फौज बनाएगा···" और उसके आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब लेफ्टिनेन्ट कर्नल ने खड़े होकर निहायत तपाक से एक साधारण लेफ्टिनेन्ट से हाथ मिलाते हुए कहा—"वह सब हो जायगा। मगर यह बताओ कि तुम कॉलेज में क्रिकेट में कैसे थे?"

चमत्कार

चन्द घंटे ही में लाडो दाई की ज़बानी ख़बर सारे प्रजापुर गाँव में फैल गई।

छुट्टी का दिन था। लोगों की टोलियों-की-टोलियाँ रामू के झोंपड़े की तरफ़ चल पड़ीं कि देखें, लाडो सच कहती है या झूठ।

"भला ऐसा भी कभी हो सकता है?"

"भगवान् की लीला है, भैया! जिसे देना चाहता है, छप्पर फाड़-कर देता है!"

"रामू की बहू बड़ी क़िस्मतवाली निकली। एक न दो..."

"ही ही ही ही!"

"अबे, दाँत क्यों निकालता है? इसमें हँसने की क्या बात है?"

"कुछ नहीं, मैं सोच रहा था, रामू देखने में तो यूँ ही लगता है—मरियल-सा, मगर बड़ा मर्द का बच्चा निकला!"

"सुना है, साला बड़ा खुश है। सवेरे से ही भंग पिए पड़ा है।"

"होना भी चाहिए, कुछ करके दिखाया है उसने। एक तू है कि आज तक एक भी...."

"अरे, तो इसमें उसने क्या तीर मारा है, शाबाश तो उसकी बहू को देनी चाहिए..."

"क्यों पण्डितजी, विलायत में कभी हुआ है ऐसा?"

"अरे, वे क्या खाकर हम हिन्दुस्तानियों का मुक़ाबला करेंगे? वहाँ

के तो न मर्द मर्द हैं, और न औरतें औरतें ही।"

"तब तो रामू की बहू का सारी दुनिया में नाम हो जायगा।"

"और क्या, और साथ में हमारे गाँव का।"

उस दिन पोस्ट ऑफ़िस का हरकारा जब प्रजापुर गाँव में चिट्ठियाँ बाँटने आया तो यह ख़बर सुनी। शहर वापिस जाकर उसने अपने पोस्ट-मास्टर को सुनाई। पोस्ट-मास्टर ने अपने पड़ोस में सिविल हस्पताल के डॉक्टर कुन्दनलाल को जा सुनाई, शहर कॉंग्रेस-कमेटी के सभापति लाला बंसीधर, जो बवासीर के मरीज़ थे, डॉक्टर के पास अपने लिए दवा लेने आए तो उन्होंने यह ख़बर सुनी। वहाँ से वह सीधे गांधी गार्डन में स्वतन्त्रता उत्सव के सिलसिले में एक सभा का सभापतित्व करने जा रहे थे। रास्ते में उन्हें मुन्शी व्रजनारायण मिल गए, जो म्यूनिसिपल स्कूल में पढ़ाते थे और साथ में "देश दीपक" दैनिक के स्थानीय संवाददाता भी थे। उन्होंने कहा—"लालाजी, आज भाषण में जो-कुछ कहने वाले हैं, वह पहले से बता दीजिए तो मैं अभी तार दे दूँ, वरना सभा ख़त्म होते-होते देर हो जायगी; फिर कल सवेरे के अख़बार में न छप सकेगी।" लालाजी ने फ़ौरन जेब से निकालकर अपने भाषण का लिखा हुआ खुलासा मुन्शीजी को दे दिया। इधर-उधर की बातों में उन्होंने डॉक्टर से सुनी हुई ख़बर भी मुन्शीजी को सुना दी।

"सच, लालाजी। मगर क्या ऐसा हो सकता है?"

"हाँ भाई, होगा ही। मुझे तो अभी डॉक्टर साहब ने बताया है।"

"तब ज़रूर ठीक होगा। इतना स्पैशल केस है, शायद डॉक्टर साहब ने खुद किया होगा।"

"हाँ, और क्या।"

अगले दिन "देश दीपक" में लाला बंसीधर के भाषण की रिपोर्ट तो न छपी, मगर पहले पृष्ठ पर ही मोटे-मोटे अक्षरों में यह ख़बर प्रकाशित हुई—

भारत माता को किसान औरत की अनोखी भेंट।

१५ अगस्त को पाँच बच्चों को जन्म दिया।

हमारे भीमनगर के संवाददाता ने खबर दी है कि पास के गाँव प्रजापुर में एक किसान औरत ने कल सवेरे पूरे पाँच बच्चों को जन्म दिया है। इनमें तीन लड़के हैं और दो लड़कियाँ हैं। माँ और बच्चे सब ख़ैरियत से हैं।

बच्चों की पैदाइश के वक्त भीमनगर के डॉक्टर कुन्दनलाल खुद मौजूद थे और ऐसे मुश्किल "डिलिवरी केस" का सेहरा उन्हीं के सिर है। इस खबर से प्रजापुर में ही नहीं, आसपास के सभी कस्बों और गाँवों में खुशी और हैरानी की लहरें दौड़ रही हैं और लोगों की टोलियों-की-टोलियाँ इन पाँच बच्चों और उनकी माँ को देखने चली जा रही हैं। भीमनगर शहर में भी इस खबर की चर्चा हो रही है, और बहुत-से ऐसे भी हैं जो सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास करने को तैयार नहीं, जब तक कि इसका उन्हें प्रमाण न मिल जाय। इस सिलसिले में सम्मानित नागरिकों का एक जत्था लाला बंसीधर, सभापति नगर काँग्रेस-कमेटी, के नेतृत्व में बहुत जल्द प्रजापुर जा रहा है।

कुछ धार्मिक मण्डलियों में इस अजीब घटना को काफी महत्त्व दिया जा रहा है, और कहा जाता है कि पाँच जुड़वाँ बच्चों का इकट्ठा पैदा होना एक चमत्कार ही हो सकता है। मगर काँग्रेसी इस "चमत्कार" को विशेष राजनैतिक रंग में देख रहे हैं और कल आज़ादी-उत्सव के मौके पर भाषण करते हुए लाला बंसीधर ने फ़रमाया कि "प्रजापुर के हमारे एक किसान भाई रामू की बहू लाजो ने पन्द्रह अगस्त के शुभ दिन इन पाँच बच्चों की अनोखी भेंट भारत माता के चरणों में रखी है।"

"देश दीपक" से यह ख़बर प्रेस ट्रस्ट और दूसरी समाचार एजेन्सियों के ज़रिए हिन्दुस्तान के साढ़े सात सौ अखबारों में छपी। विदेशी

संवाददाताओं ने फौरन तार खड़खड़ाए और कुछ घंटों में यह ख़बर सारी दुनिया में फैल गई। एक सौ पचीस हिन्दुस्तानी अख़बारों और पचपन विदेशी अख़बारों ने इस घटना पर सम्पादकीय लिखे। मशहूर राष्ट्रीय पत्र "कॉंग्रेस टाइम्स" ने लिखा कि "एक देशभक्त किसान औरत ने इन जुड़वाँ बच्चों को ठीक पन्द्रह अगस्त के दिन जन्म देकर भारत-माता की सन्तान में पाँच जानों की बढ़ती ही नहीं की, बल्कि साबित कर दिया है कि भारत के सब किसान आज़ादी का मान करते हैं और दिलोजान से अपनी राष्ट्रीय सरकार के साथ हैं। हम अपने किसान भाई रामू और उसकी धर्मपत्नी लाजो को बधाई देते हैं, और उनके शानदार उदाहरण को कम्यूनिस्टों और सोशलिस्टों के सामने रखना चाहते हैं, जो बातें तो बड़ी-बड़ी बनाते हैं, मगर कर्मभूमि में एक चुहिया का बच्चा भी पैदा नहीं कर सकते!"

साप्ताहिक "देश सैनिक" ने एक जोशीले सम्पादकीय में लिखा कि "पाँच जुड़वाँ बच्चे पैदा करके हमारी बहन लाजो ने भारत की लाज रखी है, वरना आज तक कैनेडा के सामने हमारी गरदन शर्म से झुकी हुई थी।"

कैनेडा से ख़बर आई कि डीऔन घराने की पाँचों जुड़वाँ लड़कियों ने प्रजापुर के जुड़वाँ बच्चों को मुबारकबाद का तार भेजा है।

"भारत भीष्म" ने लिखा, "कैनेडा वाले यह न समझें कि वे हम भारतवासियों की बराबरी कर सकते हैं। पाँच जुड़वाँ बच्चों को जन्म देना कोई बड़ा कमाल नहीं। मगर वे यह मत भूलें कि हमारी एक बहन ने जिन पाँच जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया है, उसमें एक न दो, पूरे तीन लड़के हैं!"

एक और दैनिक "राष्ट्रीय सेवक" ने लिखा कि "अगर हम सब भारत के रहने वाले रामू और लाजो के पदचिह्न पर चलें तो बहुत जल्द भारतवासियों की गिनती इतनी हो जायगी कि हम सारी दुनिया पर छा सकते हैं। हम सरकार को सलाह देते हैं कि योग्य डॉक्टरों की एक

कमेटी बनाए, जो इस बात की छानबीन करके ऐसा तरीका बताए, जिससे हर भारतीय पति रामू और हर भारतीय स्त्री लाजो बन सके।"

इस पर सोशलिस्ट सप्ताहिक "जनता गज़ट" ने अपने सम्पादकीय में लिखा कि "हमारे देश की आबादी पहले ही बहुत बढ़ी हुई है। मुल्क में खाने को काफ़ी अनाज नहीं है। क्या इकट्ठे पाँच-पाँच जुड़वाँ बच्चे पैदा करके हम बेकारी और भूख को और भयानक बनाना चाहते हैं? सरकार इन ढकोसलों से जनता का ध्यान खुराक और मकान की माँगों से नहीं हटा सकती।"

कम्यूनिस्ट साप्ताहिक 'लाल सलाम' ने 'जनता गज़ट' के विरुद्ध लिखते हुए कहा कि "कम्यूनिस्ट सांईटिस्ट, लेनिन और स्टालिन के बताए हुए रास्ते पर चलते हुए मालथस के गन्दे सिद्धान्त को झूठा साबित कर चुके हैं। अगर देश में खाने-पीने की कमी है, तो उसकी वजह यह नहीं है कि आबादी बढ़ गई है, बल्कि नेहरू-पटेल सरकार की जनता विरुद्ध पॉलिसी है, जिसके अनुसार ब्लैकमारकेट के साँपों को दूध पिलाया जाता है और किसान मजदूरों के बच्चे दूध के लिए बिलखते हैं। हम कॉमरेड रामू और कॉमरेड लाजो को मुट्ठी भींचकर लाल सलाम करते हैं और उन्हें यकीन दिलाते हैं कि तिलंगना से लेकर कोरिया तक सारे जगत् की जनता उनको मुबारकबाद दे रही है कि उन्होंने बढ़ती हुई जनता की फौज में पाँच लाल सिपाहियों की बढ़ती की है।"

"शंकर्स वीकली" ने एक कार्टून छापा जिसमें एक किसान औरत अपने पाँच बच्चों के लिए राशन माँग रही है और उसे देखकर खाद्य-मन्त्री श्री कन्हैयालाल मुन्शी की गांधी टोपी घबराहट के मारे हवा में उड़ गई है।

"डेली कॉल" के हास्य स्तम्भ में एक पैरा छपा—"सुना गया है कि 'अधिक अनाज उगाओ' और वृक्ष लगाओ' के बजाय सरकार अब 'अधिक बच्चे पैदा करो' की स्कीम पर विचार कर रही है।"

आल इण्डिया वोमन्स कान्फ्रेन्स ने "लाजो डे" मनाने का ऐलान

किया। प्रेज़ीडेण्ट राजेन्द्रप्रसाद ने रामू को बधाई का तार भेजा। हिन्दू महासभा के एक लीडर ने एक बयान में कहा कि "जब तक भारत में रामू-जैसे पुरुष और लाजो-जैसी स्त्रियाँ हैं, हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति पर कोई आँच नहीं आ सकती।"

पाकिस्तान के एक पत्र "सब्ज़ परचम" ने लिखा कि "भारत में इकट्ठे पाँच-पाँच बच्चों का होना पाकिस्तान के लिए ख़तरे की घंटी है। पाकिस्तान के मर्द और औरतें काफ़िरों के इस चैलेंज का क्या जवाब दे रहे है?"

न्यूयार्क से ख़बर आई कि अमरीका के चार डॉक्टर हवाई जहाज से रामू और लाजो की डॉक्टरी परीक्षा करने हिन्दुस्तान आ रहे हैं। मास्को के एक पत्र ने इस ख़बर पर आलोचना करते हुए लिखा कि रामू और लाजो ही को नहीं, हिन्दुस्तान की सारी जनता को अमरीकी डॉक्टरों की साम्राज्यी चालबाज़ियों से होशियार रहना चाहिए।

लखनऊ, नागपुर और बम्बई के तीन ज़च्चाघरों के नाम "लाजो मेटर्निटी होम" रखे गए।

अमरनाथ की यात्रा से लौटकर एक योगी महाराज ने बयान दिया कि एक बर्फ़ीली गुफा में इक्कीस दिन की तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान हुआ था कि एक किसान स्त्री पाँच बच्चे इकट्ठे जनेगी और उनमें से एक भगवान् विष्णु का अवतार होगा और उसकी पहचान यह होगी कि उसके बाएँ पैर पर एक गोल निशान होगा। इस पर बहुत से योगी प्रजापुर जा पहुँचे और बच्चों के पैरों की जाँच की। उनमें से एक ने ऐलान किया कि हर बच्चे के पैर पर गोल निशान है; एक ने कहा कि किसी के पैर पर भी नहीं है; और बाकी की राय थी कि सिर्फ एक के पैर पर है। मगर उनमें से किसी को एक बच्चे के पैर पर यह निशान नज़र आता और किसी को दूसरे के।

तिब्बत से एक ख़बर आई कि वहाँ एक औरत ने पूरे छः बच्चों को जन्म दिया है, मगर बाद में वह झूठी साबित हुई। फिर रूस से ख़बर

आई कि साइबेरिया में एक औरत ने सात बच्चे इकट्ठे पैदा किए, मगर अमरीकन पत्रों में फ़ौरन इस ख़बर को झूठा बता दिया गया।

एक हफ़्ते तक सब अख़बार रामू और लाजो के बच्चों की बातों से भरे रहे और एक पत्रकार ने हिसाब लगाया कि दुनिया में सब पत्रों को मिलाकर अस्सी हज़ार पाँच सौ सात कालम इन बच्चों के बारे में प्रकाशित हुए और इस तरह उन्हें कोई एक करोड़ रुपए की मुफ्त पब्लिसिटी मिली। इन्हीं दिनों में "रामू-लाजो मित्र मण्डल" के नाम से एक संस्था बनाई गई, जिसकी तरफ से एक डैपुटेशन प्रजापुर भेजने का फैसला किया गया। इस मण्डल के ख़र्चे के लिए एक लाख रुपए की अपील की गई, और बहुत जल्द उसमें से चालीस हज़ार रुपया जमा हो गया। इसमें दस हज़ार रुपए एक मशहूर देशभक्त सेठजी ने दिये, जिनको यह अफ़सोस था कि उनकी सात बीवियों में से किसी ने भी उन्हें एक बच्चे की भी भेंट न दी थी। मण्डल की सभानेत्री लेडी नीलकंठ सुपारीवाला चुनी गईं, जो बीस साल के वैवाहिक जीवन के बाद तक भी निःसन्तान थीं, और बच्चों के बजाय कुत्ते पालती थीं! डैपुटेशन के आठ मेम्बर चुने गए, जिनमें से एक डॉक्टर था, एक वकील, एक प्रोफ़ेसर; तीन कारख़ानों के मालिक थे और दो सोसायटी की फ़ैशनेबल औरतें। एक मनचले रिपोर्टर ने डैपुटेशन के नामों का ऐलान करते हुए लिखा कि इन आठों के कुल मिलाकर पाँच ही बच्चे थे, और इस तरह वह सब मिलकर रामू और लाजो की बराबरी कर सकते थे।

तेरह हज़ार रुपए पर इस डैपुटेशन के लिए एक हवाई जहाज़ किराए पर लिया गया। बारह सौ रुपए के हार-गजरे और गुलदस्ते रामू और लाजो को पेश करने के लिए ख़रीदे गए। नौ हज़ार रुपए मेम्बरों को सफ़र-ख़र्च के लिए दिये गए। सात हज़ार मण्डल के दफ्तर की पगड़ी के लिए दिया गया। बाक़ी रुपयों में से एक हज़ार रुपए के खिलौने रामू और लाजो के बच्चों के लिए लिये गए, जो मण्डल की कमेटी के मेम्बर सेठ जौहरीचन्द के कारख़ाने में बने थे। इस तरह उनके कारख़ाने

को न सिर्फ छः सौ रुपए का लाभ हुआ, बल्कि जब इन खिलौनों की तस्वीरें पत्रों में छपीं, तो हज़ारों रुपए का इश्तहार भी मुफ्त हुआ और इस खिलौनों के कारखाने की बिक्री पहले से तिगुनी हो गई। दो हज़ार के कपड़े बच्चों के लिए सिलवाए गए, जिनमें से कुछ रुपया करोड़ीमल क्लॉथ मिल को मिला और कुछ टीकाचन्द टेलरिंग हाउस को मिला। इस तरह पूरा चालीस हज़ार का हिसाब बराबर करके डैपुटेशन हवाई जहाज़ से भीमपुर पहुँचा, और वहाँ से मोटरों में चढ़कर प्रजापुर।

साथ में कई दर्जन रिपोर्टर और प्रेस फोटोग्राफर भी थे। जब उनकी मोटरें रामू के झोंपड़े के पास पहुँचीं तो आवाज़ सुनकर रामू झोंपड़े से बाहर निकल आया। इस भीड़ को देखकर वह लड़खड़ाती हुई आवाज़ में बोला—"क्यों, क्या है ?"

लेडी नीलकंठ सुपारीवाला ने फ़ौरन एड्रेस पढ़ना शुरू कर दिया—"इस शुभ अवसर पर हम भारत के पैंतीस करोड़ की ओर से श्री रामू और लाजो को बधाई देते हैं। बेशक उन्होंने इस देश की शान में चार चाँद लगा दिए हैं। आज हम श्रीमती लाजो के रूप में भारत-माता का रूप देख रहे हैं। ये पाँच बच्चे रामू और लाजो ही के आँखों के तारे नहीं, सारे देश के राजदुलारे हैं। वे हमारा अनमोल ख़ज़ाना हैं, जिसको देखकर सारी दुनिया की आँखें चकाचौंध हुई जा रही हैं। आज से इन बच्चों की देखभाल, इनकी शिक्षा, शादी-ब्याह, देश के ज़िम्मेदारी है। हम श्री रामू और श्रीमती लाजो से प्रार्थना करते हैं कि ये खिलौने और कपड़े, जो उनके देश वालों ने इन बच्चों के लिए भेजे हैं, स्वीकार करें।"

रामू, जो अब तक अधखुली आँखों से उन सब को खड़ा देख रहा था, अब एक भयानक कहकहा मारकर चिल्ला पड़ा—"खिलौने ? कपड़े ? जाओ—पहनाओ उन्हें यह कपड़े—" लेडी नीलकंठ सुपारीवाला के हाथ से रेशमी फ्रॉक छीनकर उसने आवाज़ दी—"लाजो—अरी-ओ लाजो ! रोती क्यों है ? देख, तेरे बच्चों के लिए यह क्या कुछ

आया है—उन बेचारों को दूध नहीं मिला, तो क्या हुआ ? दवा नहीं मिली, तो क्या हुआ ? झोंपड़े की छत टपककर उन्हें निमोनिया हो गया, तो क्या हुआ ? अरी, उन्हें कफ़न तो रेशमी मिल रहे हैं।"

डैपुटेशन के मेम्बर भौंचक्का होकर जल्दी से झोंपड़े में घुसे तो देखा, लाजो मुँह छिपाए कोने में बैठी रो रही है और सीली ज़मीन पर पाँच नन्हीं-नन्हीं लाशें चीथड़ों में लिपटी पड़ी हैं।

भारत-माता के पाँच रूप

भगवान् ने अपने हाथों से मिट्टी का एक पुतला बनाकर उसमें जान डाली या क्रम-विकास के चक्कर से बन्दर तरक्की करते करते इन्सान बन गया—यह बहस बरसों से चली आ रही है और आज तक इसका फैसला नहीं हो सका। मगर इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि इन्सान को जन्म देने वाली उसकी माँ ही होती है। नौ महीने तक होने वाले बच्चे को वह अपने खून से सींचती है; खुद मौत से गुज़र कर जिन्दगी पैदा करती है। माँ और बच्चे का नाज़ुक रिश्ता अटल और अमर है।

जभी तो इन्सान को जिस चीज से भी बहुत लगाव होता है, उसको माँ के रिश्ते से याद करता है। अपने वतन को "मातृभूमि," "मादरेवतन" या "मदरलैंण्ड" कहता है। अपनी यूनिवर्सिटी या कॉलेज को "अल्मा-मेटर" (Ulma-Mater) "मादरे तालीमी" या "ज्ञान-माँ" कहता है। जमीन, जो एक प्यार करने वाली माँ की तरह इन्सान को खाना-कपड़ा देती है, "धरती माता" कहलाती है।

हम हिन्दुस्तानियों ने तो हजारों बरसों से अपने देश की आत्मा ही को "भारत माता" का नाम दे रखा है।

भारत माता की जय !

वन्दे मातरम् !

इन दोनों कौमी नारों में अपने वतन को माँ कहकर पुकारा गया है।

लाखों, बल्कि करोड़ों ने ये नारे लगाए होंगे, मगर शायद ही किसी ने यह सोचा हो कि यह "भारत-माता" है कौन—या क्या ?

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब "हिन्दुस्तान की कहानी" में लिखा है कि उन्होंने किसानों के एक समूह से पूछा कि "भारत-माता" उनकी राय में क्या है ? एक किसान ने जवाब दिया कि यह धरती जिससे हम जन्म लेते हैं, जो हमें खाना-कपड़ा देकर पालती-पोसती है, यही हमारी "भारत-माता" है। पंडितजी ने किसानों को बताया कि वे सब—यानी हिन्दुस्तान के सारे रहने वाले—ही मिलकर "भारत-माता" कहलाते हैं।

एक ढंग से यह कहना ज़रूर ठीक है कि "भारत-माता" भारत-निवासियों का एकत्रित और सांकेतिक नाम है। फिर भी इस इशारे को नज़र आने वाले ढंग से दिखाना हो तो किसी पुरुष के रूप में नहीं दिखाया जा सकता। "भारत माता" तो कोई स्त्री ही हो सकती है। मगर कैसी स्त्री ?

क्या "भारत-माता" आकाश पर रहने वाली देवी है जो भगवान् की तरफ़ से हमारे देश की देखभाल के लिए नियुक्त है ? क्या "भारत-माता" लम्बे बालों और गुलाबी गालों वाली, बढ़िया रेशमी साड़ी पहने और सोने के जेवरों से लदी हुई कोई मोटी-ताज़ी महारानी है, जैसी वह मूर्त्तियों और नाटकों में दिखाई जाती है ?

नहीं, अगर "भारत-माता" इन तेतीस करोड़ भूखों-नंगों की माँ है, तो वह कोई देवी, अप्सरा, या रानी-महारानी नहीं हो सकती। वह तो भारत की करोड़ों ग़रीब माताओं में से ही एक हो सकती है—या शायद उनमें से हर एक हो सकती है। जिस शकुन्तला के बेटे के नाम पर यह देश भारत कहलाता है, वह भी तो एक ऐसी ही माँ थी। ग़रीब, बे-आसरा, बे-सहारा। एक सन्यासी बाप और एक नर्तकी की बेटी। आश्रम में पली हुई, पति की भुलाई हुई, ज़माने-भर की ठुकराई हुई। फिर भी वह माँ थी—एक ऐसी माँ जिसने अकेली होते हुए भी अपने

बेटे को पालने और परवान चढ़ाने के लिए दुनिया की हर मुश्किल और मुसीबत का सामना किया—ग़रीबी, भूख, बनवास।

वह थी पहली "भारत-माता"!

और उसके बाद? क्या अब हमारे अपने युग में ऐसी माताएँ नहीं हैं जो "भारत माता" कहलाने का उतना ही अधिकार रखती हों?

जब कभी मैं "भारत-माता की जय" का नारा सुनता हूँ, मेरे दिमाग में कई सूरतें उजागर होती हैं—कुछ साधारण स्त्रियों की सूरतें। उनमें से कोई भी किसी वजह से भी मशहूर नहीं है। उनकी तस्वीरें तो क्या, उनमें से किसी का नाम भी आज तक पत्रों में नहीं छपा। फिर भी (मेरी राय में) उनमें से हरएक "भारत-माता" कहला सकती है।

खद्दर का कफ़न

तीस बरस पहले की बात है, जब मैं बिलकुल बच्चा था, हमारे पड़ोस में एक गरीब बूढ़ी जुलाहिन रहती थी। उसका नाम तो हकीमा था, मगर सब उसे "हक्को" "हक्को" कहकर पुकारते थे। उस समय शायद साठ बरस की उम्र होगी उसकी। जवानी ही में विधवा हो गई थी और उम्र-भर अपने हाथ से काम करके उसने अपने बच्चों को पाला था। बूढ़ी होकर भी वह सुरज निकलने से पहले उठती थी, गरमी हो या जाड़ा। अभी हम अपने-अपने लिहाफ़ों में दुबके पड़े होते थे कि उसके घर से चक्की पीसने की आवाज़ आनी शुरू हो जाती। दिन-भर वह झाड़ू देती, चरखा कातती; कपड़ा बुनती, खाना पकाती, अपने लड़कों, लड़कियों, पोतों-दोहतों के कपड़े धोती। उसका घर बहुत ही छोटा-सा था। हमारे इतने बड़े आँगन वाले घर के सामने वह जूते के डिब्बे जैसा लगता था। दो कोठरियाँ, एक पतला-सा बरामदा और दो-तीन गज लम्बा-चौड़ा आँगन। मगर वह उसे इतना साफ़-सुथरा और लिपा-पुता रखती थी कि सारे मुहल्ले वाले कहते कि हक्को के घर के फ़र्श पर

खीलें बखेर कर खा सकते हैं।

सुबह-सवेरे से लेकर रात गए तक वह काम करती रहती थी। फिर भी जब कभी हक्को हमारे घर आती, हम उसके चेहरे पर रौनक ही पाते। बड़ी हँसमुख थी वह। गहरा साँवला रंग था, जिस पर उसके बगला जैसे सफेद बाल खूब खिलते थे। उसकी काठी बड़ी मजबूत थी और उसके मरते दम तक उसकी कमर हमने कभी झुकी हुई नहीं देखी। मगर आख़िरी दिनों में उसके कई दाँत टूट चुके थे, जिससे बोलने में पोपलेपन का एक अन्दाज़ आ गया था। बड़े मज़े-मज़े की बातें करती थी। जब हम बच्चे उसे घेर लेते तो वह हमें तीन शाहज़ादों, सात शाहज़ादियों, राक्षसों और परियों की कहानियाँ सुनाती। वह परदा नहीं करती थी। अपना सारा कारोबार खुद चलाती। हक्को पढ़ी-लिखी बिलकुल नहीं थी। न उसने पुरुषों और स्त्रियों की बराबरी के असूल का ज़िक्र सुना था, न लोकराज और समाजवाद का। फिर भी हक्को न किसी पुरुष से दबती थी; न किसी अमीर-रईस, अफ़सर या दारोग़ा से डरती थी।

हक्को ने उम्र-भर मेहनत-मज़दूरी करके अपने बाल-बच्चों के लिए थोड़ा-बहुत पैसा इकट्ठा किया था। उसने बैंक का तो नाम भी न सुना था। उसकी सारी पूँजी (जो शायद सौ दो सौ रुपये हो) चाँदी के गहनों की शक्ल में उसके कानों, गले और हाथों में पड़ी हुई थी। चाँदी की बालियों से झुके हुए उसके कान मुझे अब तक याद हैं। ये गहने उसे जान से भी ज़्यादा प्यारे थे क्योंकि यही उसके बुढ़ापे का सहारा थे। मगर एक दिन सब मुहल्ले वालों ने देखा कि हक्को के कानों में न बालियाँ रहीं और न उसके गले में हँसली, न हाथों में कड़े और चूड़ियाँ। फिर भी उसके चेहरे पर वही पुरानी मुस्कराहट थी और कमर में नाम को भी झुकाव नहीं था।

हुआ यह कि उन दिनों महात्मा गांधी, मुहम्मदअली शौकत अली के साथ पानीपत आए। हमारे नाना के मकान में उन्होंने कई भाषण

दिए—असहयोग और स्वराज्य के बारे में। हक्को भी एक कोने में बैठी उनकी बातें सुनती रही। बाद में जब चन्दा इकट्ठा किया गया, तो हक्को ने अपने सारे गहने उतारकर उनकी झोली में डाल दिए और उसकी देखादेखी और औरतों ने भी अपने-अपने गहने उतार कर चन्दे में दिए।

उस दिन से हक्को "खिलाफती" हो गई। हमारे यहां आकर नाना अब्बा से खबरें सुना करती और अकसर पूछती—"यह अंग्रेज़ का राज कब खत्म होगा?" खिलाफत कमेटी या कांग्रेस के जलसे होते तो उनमें बड़े चाव से जाती और अपनी समझ-बूझ के अनुसार राजनैतिक आन्दोलनों को समझने की कोशिश करती। मगर उम्र-भर की मेहनत से उसका शरीर खोखला हो चुका था; पहले आंखों ने जवाब दिया और फिर हाथ-पांव ने हक्को का घर से निकलना बन्द दिया, फिर भी चर्खा न छोड़ा। हाथों से टटोलकर आँखों बिना ही वह कपड़ा भी बुन लेती। बेटों-पोतों ने काम करने को मना किया तो उसने कहा, वह यह खद्दर अपने कफ़न के लिए बुन रही है। फिर हक्को मर गई। उसकी आखिरी वसीहत यह थी कि "मुझे मेरे बुने हुए खद्दर का कफ़न देना। अगर अंग्रेज़ी लट्ठे का दिया तो मेरी आत्मा को कभी चैन न मिलेगा।" उन दिनों कफ़न हमेशा लट्ठे ही के होते थे। खद्दर का पहला कफ़न हक्को ही को मिला।

हक्को का जनाज़ा उठा तो उसके कुछ रिश्तेदार और दो-तीन पड़ौसी थे, बस। न जुलूस, न फूल, न झंडे—बस एक खद्दर का कफ़न!

काश, उस समय मुझे इतनी समझ होती कि मैं कम-से-कम एक नारा ही लगा देता—"भारत माता की जय!"

मनु महाराज की हार

मनु महाराज ने इंसानियत को चार भागों में बांटा। ब्राह्मण, जो ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए; क्षत्रिय, जो ब्रह्मा की भुजाओं से पैदा हुए;

वैश्य, जो ब्रह्मा के उदर से पैदा हुए; शूद्र, जो ब्रह्मा के पैरों से पैदा हुए—और हमेशा दूसरी जातियों के पैरों तले रौंदे जाते रहे! और फिर इन सबसे अलग और शूद्रों से भी अधिक अपवित्र थे म्लेच्छ—दूसरे धर्मों को मानने वाले, जिनके लिए मनु महाराज के समाज में कोई जगह नहीं थी। मनु के युग में यह कार्य-विभाग समाज की उन्नति के लिए शायद लाभदायक था और यह भी हो सकता है कि विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध नफ़रत के साथ-साथ घृणा का भाव पैदा करना भी हिन्दू समाज को जीवित रखने के लिए जरूरी था। मगर पिछले कई हज़ार वर्ष में जात-पात की बाँट विवेक-रहित होती गई और पत्थर की सिलों की तरह सख्त हो गई। दुनिया बदलती रही खानाबदोशी से खेती-बाड़ी, खेती-बाड़ी से ज़मींदारी और जागीरदारी, जागीरदारी से बादशाहत, बादशाहत से विदेशी साम्राज्य और विदेशी सम्राज्य से स्वराज। एक दौर के बाद दूसरा दौर आता रहा, मगर जात-पात का शिकंजा पहले की तरह ही जकड़ा रहा और आज भी बहुत कुछ कसा हुआ है।

मगर क्या "भारत-माता" जो सब हिन्दुस्तानियों की माँ है, वह भी अपने बच्चों में इस बाँट और भेद-भाव को मानती है? क्या वह भी ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान से ऊँच-नीच बरतती है—चाहे कोई बच्चा गोरा हो या काला, खूबसूरत हो या बदसूरत, बुद्धिमान हो या मूर्ख। मगर कहते हैं कि "भारत माता" तो अनपढ़ है, पुराने रीति-रिवाजों को मानती ही नहीं, पूजती भी है। क्या यह हो सकता है कि वह मनु महाराज के बताये हुए पुराने मार्ग को छोड़कर इंसानी बिरादरी और बराबरी का रास्ता अपना सके?

जब कभी मैं इन सवालों के बारे में सोचता हूँ, मुझे अपने दोस्त की दादी याद आ जाती है जो पूना में रहती है। यह अस्सी बरस की बूढ़ी ब्राह्मणी जमाने की बहुत-सी ऊंच-नीच देख चुकी है। उसके झुर्रियों-भरे चेहरे पर एक अनोखी शान्ति है, जैसे वह जीवन का

आखिरी भेद भी पा चुकी हो और अब उसके दिल में मौत का डर भी न रहा हो। न जाने कितने वर्षों से वह अपना विधवा-जीवन अपने पोते-पोतियों की सेवा करके बिताती रही है। अब उसके हाथ-पांव में बहुत काम करने की ताक़त नहीं रही, फिर भी इस बुढ़ापे में वह घर में सबसे पहले उठती है, ठण्डे पानी से स्नान करती है और फिर पूजा-पाठ में लग जाती है।

दादी सिवाय मरहठी के कोई दूसरी भाषा नहीं जानती। उसके बचपन में लड़कियों को पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया जाता था। उसने न कभी अखबार पढ़ा है, न रेडियो सुना है, न कभी किसी जलसे में किसी नेता का भाषण सुना है। उसने कभी "इन्कलाब ज़िन्दाबाद" का नारा नहीं लगाया, फिर भी इन्कलाब खुद दादी को ढूँढता-ढांढता पूना की अंधेरी और तंग गलियों में से होता हुआ दादी के घर आन पहुंचा।

हुआ यह कि दादी के पोतों में से एक लड़का सन् १९४२ के आन्दोलन में पूना के नौजवान सोशलिस्टों के साथ मिल गया। फिर क्या था? दादी का छोटा-सा घर, जिसमें सदियों से सिवाय भगवान-भजन के और कोई आवाज़ सुनाई न दी थी, अब "अंडर-ग्राउन्ड" नौजवान क्रान्तिकारियों की खुसर-पुसर से गूँज उठा। नए-नए शब्द दादी के कानों में पड़ने लगे—नए शब्द और नए विचार! आज़ादी, इन्कलाब, आन्दोलन, साम्राज्य, स्वराज्य, लोकराज!

दादी का घर एक तंग गली में है, इसलिए साज़िशी कार्यों के लिए बहुत काम का था। कितने ही "अंडर-ग्राउन्ड" क्रान्तिकारी वहां आकर ठहरने लगे—नई सूरतें जिनके कोई नाम नहीं थे, कोई जात नहीं थी, सिवाय इसके कि सब इन्कलाबी बिरादरी में थे। रात को अंधेरे में आते और सवेरे सूरज निकलने से पहले चले जाते। दो-चार पुलिस से बचने के लिए ऊपर के कमरे में कई-कई दिन बन्द रहते। दादी उनकी सेवा भी उसी तरह करती जैसे अपने पोतों-नवासों की।

उनके लिए चाय बनाती, खाना पकाती, सोने के लिए बिस्तर देती और हर रोज पूजा के बाद उनकी रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना करती—क्योंकि दादी के अनपढ़ दिमाग में भी यह बात बैठ गई थी कि ये नौजवान अपनी जान को हथेली पर रखकर देश को आज़ाद कराने के लिए लड़ रहे हैं।

दादी अनपढ़ है, मगर मूर्ख नहीं। वह बोलती कम है, मगर सुनती सब-कुछ है और सोचती बहुत है। जल्द ही उसे मालूम हो गया कि उसके पोते के साथियों में सब ब्राह्मण ही नहीं हैं, नीच जातियों वाले भी हैं। शूद्र भी हैं। और-तो-और मुसलमान भी हैं! मगर न जाने क्यों दादी ने उनसे कोई छूतछात न बरती। चाय देते वक्त यह पूछना भी ज़रूरी न समझा कि प्याली किसी ब्राह्मण के होंठों से लगेगी, या शूद्र के, या मुसलमान म्लेच्छ के। न जाने दादी को क्या हो गया था कि वह मनु महाराज के क़ायदे-क़ानून को यूं निडरता से तोड़ने को तैयार हो गई थी?

जब लड़के सो जाते तो दादी रात-भर खिड़की के पास चौकसी बैठी रहती कि पुलिस की ज़रा-सी भी आहट हो तो उन्हें होशियार कर दे। और एक दिन पुलिस आ ही पहुँची। आधी रात के बाद, अंधेरे में मौका देखकर। सब सो रहे थे, मगर दादी जाग रही थी। बाहर सड़क पर पुलिसवालों की लारी के रुकने की आवाज़ सुनते ही उसने अपने पोते और उसके सब साथियों को जगा दिया। इससे पहले कि पुलिस घर में घुस सके, वे सब बराबर के घर की छत पर फाँद गए और वहाँ से छतों-छतों होते हुए ख़तरे के इलाके से बाहर निकल आए। जब पुलिस ने घर की तलाशी ली तो वहाँ सिवाय एक बूढ़ी पोपली आधी अन्धी दादी के और किसी को न पाया। मगर फ़र्श पर अभी तक कई कम्बल बिछे हुए थे। पुलिस वाले दादी को थाने ले गए। बुढ़ापे में उसे यह अपमान भी सहना पड़ा। वहाँ उससे घंटों सवाल किये गए। तुम्हारे घर में कौन-कौन ठहरा हुआ था? वे क्या

बातें करते थे? तुम्हारा पोता कहाँ है? उसके साथी कौन हैं? मगर दादी ने हर सवाल का जवाब बड़े भोलेपन से यही दिया—"मुझे नहीं मालूम। मैं अनपढ़ बुढ़िया ये बातें क्या जानूँ?" तंग आकर पुलिस ने दादी को छोड़ दिया। मगर दादी की ज़बान से एक शब्द भी न निकला जिससे क्रान्तिकारियों का पता चल सके।

दादी अब भी पूजा-पाठ करती है, मगर अब वह छूतछात नहीं बरतती। पिछले बरस जब उसके उसी सोशलिस्ट पोते का ब्याह हुआ और इस ब्याह में शामिल होने के लिए उसके कई मुसलमान दोस्त भी आए, उसके घर में ठहरे—और शादी की रस्मों में शरीक हुए, तो कई कट्टर विचारों के रिश्तेदारों ने इस ब्याह में आने से साफ़ इन्कार कर दिया। दादी से भी कहा गया कि वह अपनी बुज़ुर्गी के ज़ोर से पोते को मजबूर करे कि म्लेच्छों को अपने ब्याह की रस्मों में न बिठाए। मगर दादी ने उनकी एक न मानी। और ब्याह के अगले दिन सवेरे मैंने देखा कि दादी बैठी मेरी बीवी को चाय पिला रही है और अपनी पोती के ज़रिए बातें कर रही है—वैसी ही बातें और बिलकुल उसी तरह जैसी मेरी दादी किया करती थी।

और उस दिन से मैं अक्सर सोचता हूँ कि जब हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास लिखा जायगा, तो क्या उसमें इस बेनाम दादी का नाम भी होगा? जिसने आज़ादी और इन्कलाब के लिए अपने सदियों पुराने विचारों और असूलों को त्याग दिया? और फिर मैं सोचता हूँ कि इस दुबली, सूखी, पोपली, बूढ़ी स्त्री में वह कौन-सी शक्ति है कि मनु महाराज का मुक़ाबिला करने से भी नहीं डरती? क्या इसलिए कि वह 'भारत-माता' है और 'भारत-माता' मनुस्मृति से कहीं ज़्यादा अटल-अमर है?

'हिन्दोस्ताँ हमारा'

हम उत्तर में रहने वाले दक्षिण भारत के बारे में बहुत सी ग़लत

धारणाएँ रखते हैं—जैसे यह कि सारे दक्षिण भारत में 'मद्रासी' बसते हैं जो मद्रासी भाषा बोलते हैं, और वे सब इतनी कड़ी छूतछात बरतते हैं कि शूद्र की छाया भी किसी ब्राह्मण पर पड़ जाय तो शूद्र को पीटा जाता है और ब्राह्मण को फ़ौरन स्नान करना पड़ता है।

अब मेरे आश्चर्य को सोचिए, जब मैं और मेरी बीवी मद्रास पहुँचे और मेरे एक नौजवान दोस्त ने मिलते ही मुझसे कहा—"आप खाना हमारे यहाँ खा रहे हैं।" मैं जानता था कि मेरा दोस्त ब्राह्मण होते हुए भी ज़ात-पात को नहीं मानता। मगर उसके माँ-बाप? और ख़ासकर उसकी माँ? क्या वह यह सहन करेगी कि दो 'म्लेच्छ' उनके यहाँ खाना खायँ? फिर हमने सोचा, शायद हमें चौके के बाहर अलग बिठाकर खाना खिलाया जायगा। यह सब सोचते हुए हम उनके घर पहुँचे। घर में सिर्फ़ मेरे दोस्त की दो बहनें थीं और उसकी माँ; पिता कहीं बाहर गए हुए थे। मेरी बीवी इस ख़याल से सहमी और घबराई हुई थी कि इन कट्टर 'ब्राह्मणों' के यहाँ न जाने कैसा सलूक हो। मगर वहाँ पहुँचते ही हमारा स्वागत इतनी सहृदयता से हुआ कि हम अपने पिछले सन्देह भूल गए।

हम दस दिन मद्रास में ठहरे और हर रोज़ दोनों वक्त खाना इसी ब्राह्मण घराने में खाते रहे। वह कोई 'विलायत-पलट' घराना नहीं था जहाँ अंग्रेज़ी फ़ैशन से मेज़-कुरसी पर खाना खाया जाता हो; ज़मीन पर बैठकर केले के पत्तों या तांबे की थालियों में खाना खाते थे। मगर जब तक हम वहाँ ठहरे, हमसे किसी ढंग की भी छूतछात नहीं की गई। हम चौके-रसोई, जहाँ चाहे जा सकते थे। मेरे दोस्त की माँ ने मेरी बीवी को जैसे अपनी बेटी बना लिया और बहुत जल्द हम इस तरह घुल-मिल गए कि हम उसी परिवार के सदस्य मालूम होने लगे। इस ब्राह्मण घराने में आज़ाद-ख़याली और सहनशीलता कहाँ से आई? यह सच है कि मेरे दोस्त के पिता गांधी जी के पुराने साथियों में से हैं। उन्होंने बीस बरस हुए कई हज़ार की नौकरी छोड़कर गांधी जी के साथ

समाज-सुधार का काम करना शुरू किया था। तब से यह परिवार सब राष्ट्रीय आन्दोलनों में आगे-आगे रहा है। मगर इस उदारता और प्रगतिशीलता की नींव सिर्फ राष्ट्रीय चेतना पर क़ायम न थी। ये लोग पिछले तीस बरस में दिल्ली, कलकत्ते, जमशेदपुर, इलाहाबाद, अलमोड़ा, वर्धा, बम्बई और न जाने कहाँ-कहाँ रहे थे। उनकी अपनी भाषा तामिल है, मगर मेरे दोस्त की माँ बचपन में मालाबार में रही थीं इसलिए मलयालम भी बोल लेती हैं। यू० पी० में बरसों रहने के कारण सब घर वाले साफ़ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और बंगाली तो बंगालियों ही की तरह बोलते हैं। एक बेटी का ब्याह एक बंगाली फ़िल्म-डायरेक्टर से हुआ है। दूसरी का ब्याह एक बंगाली पत्रकार से। बेटियों के बच्चे, जो बम्बई में रहते हैं, तामिल, बंगाली, हिन्दुस्तानी, गुजराती, मराठी और अँग्रेज़ी छः भाषाओं की खिचड़ी बोलते हैं। और घर में खाना तो पँचमेल पकता ही है। यह घराना सचमुच दावा कर सकता है कि "हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा!"

इस घराने की सबसे दिलचस्प व महत्वपूर्ण सदस्या इनकी माँ है। यह देवी, जो किसी ज़माने में बहुत सुन्दर रही होंगी, अब से तीस बरस पहले कालिज में पढ़ चुकी हैं। अँग्रेज़ी बोलती ही नहीं, लिख-पढ़ भी सकती हैं; तामिल में लेख और कविताएँ लिखती हैं। अपने सब बेटों और बेटियों को उन्होंने ऊँची शिक्षा दिलवाई है। कभी उनके पति को अठारह सौ रुपए मासिक वेतन मिलता था। वह शानदार बँगले में रहती थीं और फर्स्ट-क्लास में यात्रा किया करती थीं। अब वह सिर्फ़ एक कमरे में अपने सारे ख़ानदान समेत रहती हैं; खद्दर की साड़ी और टूटे चप्पल पहनती हैं; खाना अपने हाथ से पकाती हैं और सब बच्चों और उनके मेहमानों को खिला लेती हैं, तब जाकर खुद टुकड़ा तोड़ती हैं। मगर उन्होंने गृहस्थी में पड़कर अपने दिमाग़ की खिड़कियों को बन्द नहीं कर लिया। अँग्रेज़ी, तामिल और हिन्दी की किताबें और पत्र बराबर पढ़ती हैं; राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर राय रखती

हैं और बहस कर सकती हैं; राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्मेलनों में जाती हैं; कला और संगीत की समझ रखती हैं। अपनी दोनों बेटियों को उन्होंने क्लासिकल गान और नाच की शिक्षा दिलवाई है। फ़िल्म देखती हैं और उनपर कड़ी आलोचना भी करती हैं। उन्होंने और उनके पति ने अमीरी आराम के जीवन को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए त्याग दिया, मगर उनके स्वभाव में वह रूखापन और कड़वाहट ज़रा नहीं जो अक्सर देश-भक्तों में मिलती है—जैसे वे अपनी कुर्बानी और त्याग का ऐलान कर रहे हों। वह, उनके पति और उनका बेटा, सब कई बार जेल जा चुके हैं, मगर वह अपनी जेल-यात्रा का डंका नहीं पीटतीं। गरीबी और तंगी का जीवन बिताते हुए भी वह बहुत हँसमुख हैं, हँसती और हँसाती रहती हैं। जीवन के हर पहलू में दिलचस्पी लेती हैं। साठ के लगभग उम्र होने को आई, बालों में सफेदी बढ़ती जा रही है, और चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ती जा रही हैं, मगर उनका मन अब भी जवान है और ज़माना उनके चेहरे से वह भोली मुस्कराहट नहीं मिटा सका जो जवानी में उनकी सबसे सुन्दर विशेषता थी।

एक दोपहर को मुझे याद है कि हम सब उनके कमरे में फ़र्श पर लेटे सो रहे थे। गरमी के दिन थे और उस कमरे में बिजली का पंखा नहीं था। मेरी आँख खुली तो मैंने देखा कि वह ऐनक लगाए तामिल की एक किताब पढ़ रही हैं और साथ-साथ हमें पंखा भी झलती जाती हैं। खुद उनके चेहरे पर पसीने की बूंदे चमक रही थीं। उनका दिमाग किताब में था और दिल अपने बच्चों में। अपनी उन्हें कोई परवाह न थी। मैंने सोचा कि अभी थोड़ी देर में वह उठेंगी और किताब रखकर हमारे लिए चाय बनायँगी, फिर बच्चों को नहलाएँगी। और मुझे बड़ा अचम्भा हुआ कि कैसे वह इतना काम करती हैं और फिर भी इनके माथे पर कभी बल नहीं आता, कैसे वह एक बार अमीरी की ज़िन्दगी बसर करने के बाद इस गरीबी के जीवन को इतनी हँसी-खुशी निभा रही हैं, कैसे वह एक ही वक्त किताब भी पढ़ सकती हैं और

पंखा भी झल सकती है, रोटियां भी पका सकती हैं और राजनैतिक विचारों पर बहस भी कर सकती हैं !

और फिर मैंने सोचा कि यह तो "भारत-माता" का नया और बड़ा अनोखा रूप है—जिसके एक हाथ में किताब है और दूसरे में पंखा, जिसके बालों में गुलाब के फूल हैं और पैरों में काम-काज की धूल, जिसकी आँखों में बंगाल का जादू है और होठों पर मालाबार की मुस्कान, जिसके शरीर में राजस्थान का लोच है और रंगत में पंजाब की सुर्खी, जिसके चेहरे पर बुढ़ापे की गम्भीरता है और जिसके दिल में जवानी की हिम्मत और ज़िन्दगी और शरारत है।

शरणार्थी

अगस्त-सितम्बर, सन् ४७, के तूफान ने एक करोड़ के लगभग इन्सानों को सूखे पत्तों की तरह उड़ाकर कहीं-से-कहीं जा गिराया। पेशावर वाले बम्बई, दिल्ली वाले कराची, कराची वाले बम्बई, लाहौर वाले दिल्ली, रावलपिंडी वाले आगरे, आगरे वाले लायलपुर और लायलपुर वाले पानीपत पहुँच गए। उम्र भर के साथी और दोस्त और पड़ोसी अलग हो गए। पुराने घराने तितर-बितर हो गए। भाई-से-भाई बिछुड़ गया। घरवाले बेघर हो गए, लखपति कंगाल हो गए। चार दीवारी में पली हुई जवानियाँ बिकने के लिए बाज़ारों में आ गईं।

इस तूफान ने अक्तूबर, सन् ४७, में दो बूढ़ी औरतों को उनके अपने-अपने पुराने वतन से उठाकर हज़ारों मील दूर बम्बई में ला फेंका। इनमें से एक मेरी अम्माँ थीं और दूसरी मेरे एक सिक्ख दोस्त की माँ। एक पूर्वी पंजाब से आई, दूसरी पश्चिमी पंजाब से। दोनों शायद एक ही दिन बम्बई पहुँचीं। मेरी अम्माँ पानीपत से रातों-रात मिलिटरी ट्रक में दिल्ली आईं, और वहां से हवाई ज़हाज़ से बम्बई आईं, क्योंकि इन दिनों रेल का सफ़र ख़तरनाक था। मेरे दोस्त की माँ रबी मुसीबतें झेलने के बाद, पश्चिमी पंजाब के कत्ले-आम से गुज़रती

हुई रावलपिंडी से अमृतसर पहुँची, अमृतसर से दिल्ली और वहां से बम्बई।

मैं अपनी माँ को "अम्माँ" कहता था। मेरा सिक्ख दोस्त अपनी माँ को "माँजी" कहता है। जब वे दोनों यहाँ आईं, तो मुझे मालूम हुआ कि इन दोनों में बस यही एक फ़र्क था।

माँजी रावलपिंडी में अपने मकान में रहती थीं। ऊपर ये लोग खुद रहते थे, नीचे दूकानें थीं जो किराए पर चढ़ी हुईं थीं। किराएदार ज्यादातर मुसलमान थे। सारा मुहल्ला ही मुसलमानों का था। सरदार-जी और माँजी दोनों अपने पड़ोसियों में बहुत लोकप्रिय थे। सबसे खानदानी मेल-जोल बचपन से चला आ रहा था। हँसी-खुशी में एक दूसरे के शरीक होते थे। मुहल्ले-भर की मुसलमान औरतें सरदारनी को "बहनजी" कहती थीं और लड़कियाँ "माँजी" या "काकी" कहकर पुकारती थीं।

रावलपिंडी माँजी की दुनिया थी। वह कभी वहां से बाहर न निकली थीं। उनका बेटा पहले लाहौर में, फिर कलकत्ते, और फिर बम्बई में काम करता था। मगर माँजी के लिए ये सब शहर किसी दूसरी दुनिया में थे। उनका बस चलता तो बेटे को कहीं न जाने देतीं, और अपने पास रावलपिंडी ही में रखतीं। वह अक्सर सोचतीं कि "भला रुपया कमाने से क्या फ़ायदा, जब वहां उसे न खाने को असली घी मिलता है, न पीने को शुद्ध दूध, न खूबानियाँ, न बगू़ गोशे, न सेब, न अंगूर।" घर में भैंस थी, दस सेर पक्का दूध देती थी। दही बिलो-कर मक्खन निकालने के बाद छाछ सारे मुहल्ले में बँटती और सरदारनी को सब दुआएँ देते। मगर वह खुद अपने बेटे को याद करके रुआंसी हो जातीं, कि न जाने उसे बम्बई में ढंग का खाना भी मिलता है या नहीं?

रावलपिंडी के पास ही उनकी थोड़ी-बहुत पैतृक ज़मीन भी थी। खेतों से फ़सल पर काफ़ी अनाज आ जाता। दूध, दही, घी, तो घर का

था ही। थोड़ी-बहुत आमदनी दूकानों से हो जाती, कुछ रुपया बेटा भेज देता। जून में जब देश के बटवारे और पाकिस्तान बनने की खबरें छपीं, तब भी माँजी ज़रा न घबराईं। उन्हें राजनैतिक झगड़ों से क्या काम ? हिन्दुस्तान हो या पाकिस्तान, उनका वास्ता तो अपने पड़ोसियों से था। सो उनसे हमेशा के अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे थे। लाख साम्प्रदायिक झगड़े हुए, मगर माँजी और उनके घरवालों पर कोई आँच न आई। मगर इस बार तो बहुत ही भयानक आग भड़की थी। रावलपिंडी में हिन्दुओं और सिक्खों की जान खतरे में थी। मगर माँजी फिर भी शांत रहीं। बेटे ने लिखा, फौरन बम्बई चली आओ; मगर वह रावलपिंडी छोड़ने पर राज़ी न हुईं। उनके बहुत से रिश्तेदार और जाननेवाले पूर्वी पंजाब या दिल्ली चले गए, मगर माँजी अपने घर से न हिलीं। जब भी कोई उनसे कहता कि यहाँ खतरा है, हिन्दुस्तान चली जाओ, वह यही जवाब देतीं कि हमें कौन मारेगा ? इस मुहल्ले में चारों तरफ़ अपने ही बच्चे तो रहते हैं !

और फिर पूर्वी पंजाब से आए हुए मुसलमान शरणार्थियों के आने के बाद रावलपिंडी की हालत इतनी बिगड़ गई कि उनके मुसलमान पड़ोसियों में से भी दो-चार ने सलाह दी कि आप किसी सुरक्षित जगह पर चली जायँ, नहीं तो हमें आपकी जान का ख़तरा है। मगर कई ऐसे भी थे, जो उनसे यही कहते रहे कि आप न घबरायँ, हम आपकी रक्षा अपनी जान देकर भी करेंगे। एक मुसलमान दर्ज़ी, जो उनका किराएदार था और जिसका आना-जाना सरदारजी के यहाँ था, वह तो बहुत ही रोया-गिड़गिड़ाया कि आप लोग न जायँ।

पूर्वी पंजाब से, जो मुसीबत के मारे आए थे, उनमें से बहुत से माँजी के घर के पास ही ठहरे हुए थे। उनकी बुरी हालत देखकर माँजी से न रहा गया और वह उन्हें खाना, कपड़े, ज़मीन पर बिछाने के लिए दरियाँ, रात को ओढ़ने के लिए रज़ाइयाँ इत्यादि भिजवाती रहीं। और उनके मन में कभी भी यह विचार न गुज़रा कि ये मुसलमान हैं, सिक्खों

के दुश्मन कहलाते हैं, इनकी मदद न करनी चाहिए—और न यह ख़याल आया कि शायद दो-चार दिन बाद वह खुद भी इसी हालत में होंगी।

उन्हीं दिनों में उनके मकान के सामने सड़क पर कुछ मुसलमान फ़सादियों ने एक हिन्दू ताँगे वाले को छुरा भोंककर मार डाला। मैंने यह घटना माँजी की ज़बान से सुनी है—"बेटा, ताँगे वाला तो फिर भी हिन्दू था, पर घोड़े का न तो कोई धर्म होता है, न जात-पात। पर उन्होंने उस बेचारे जानवर को भी न छोड़ा। छुरे भोंक-भोंककर उसे भी मार डाला। ऐसा लगता था जैसे उनके सिरों पर खून सवार हो, जैसे वे अब इंसान न रहे हों, कुछ और हो गए हों।" उसके बाद माँजी को भी फ़ैसला करना पड़ा कि अब उनका और उनके घर वालों का वहाँ रहना ख़तरे से खाली नहीं।

सो वह रावलपिंडी का मकान और उसमें अपना सारा सामान छोड़कर चली आईं। सिर्फ़ ताला लगाकर। यह सोचती हुई कि हमेशा के लिए थोड़े ही जा रही हूँ, यह पागलपन कभी तो कम होगा, तब वापस आ जायँगे। मगर दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उनकी बूढ़ी आँखों ने वह कुछ देखा कि रावलपिंडी वापस जाने का विचार करना असम्भव हो गया। जब तक वह बम्बई पहुँचीं, रावलपिंडी की याद उनके दिल में एक कसक बनकर रह गई।

रावलपिंडी में वह छः बड़े-बड़े कमरों के घर में रहती थीं; बम्बई में वह और उनके पति अपने बेटे के पास रहते हैं—तीनों एक छोटी-सी कोठरी जैसे कमरे में जिसके एक ओर धोबी रहता है, दूसरी ओर कोयले की दूकान है। पीछे एक छोटी-सी कोठरी है, जो एक साथ रसोई, गुसलख़ाना और स्टोर-रूम का काम देती है। जब मेरा दोस्त यहाँ अकेला रहता था, यही कमरा एक "कबाड़ख़ाना" लगता था जहाँ पुराने अख़बारों, बिन-धुले बर्तनों और मैले कपड़ों के ढेर हर जगह लगे रहते थे। अब आप वहाँ जाइए तो इतनी तंग जगह में भी हर चीज़ साफ़-

सुथरी और ठिकाने से लगी हुई मिलेगी। फ़र्श साफ़ चमकता हुआ—क्या मजाल कि कहीं मिट्टी या धूल का एक भी ज़र्रा नज़र आ जाय। अपने बेटे और पति के लिए मौंजी अपने हाथ से खाना पकाती हैं, और कोई मिलने-जुलने वाला आ जाय तो वह कुछ खाए-पीए बिना वहाँ से नहीं जा सकता। मौंजी का घर छूट गया है, सामान छूट गया है, ज़मीन और घर की मालकिन से वह शरणार्थी हो गई हैं; मगर उनकी मेहमानदारी नहीं गई।

मौंजी का रंग गोरा है, क़द छोटा-सा, बाल पहले खिचड़ी थे, अब रावलपिंडी से आने के बाद सफ़ेद हो गए हैं। बीमार भी रहती हैं, मगर कभी बेकार नहीं बैठतीं। कोई-न-कोई काम-काज करती ही रहती हैं। बेटे के लिए खाना पकाना हो, या पति के कपड़ों में पैबंद लगाना हो, या किसी मेहमान के लिए चाय या लस्सी बनानी हो—हर काम अपने हाथ से करती हैं। उनको देखकर आप कभी नहीं कह सकते कि वह इतनी मुसीबतें झेली हुई शरणार्थी हैं। वह कभी मुसलमानों को बुरा नहीं कहतीं, जिनके कारण उन्हें बेघर होना पड़ा; और अपने मुसलमान पड़ोसियों का ज़िक्र अब भी बड़ी मुहब्बत से करती हैं। उन्हें ख़त लिखवाती रहती हैं और उनका जवाब आने पर बहुत खुश होती हैं। जब वह मेरी अम्माँ से पहली बार मिलीं, तो दोनों एक-दूसरे के गले लग गईं और कुछ कहने-सुनने से पहले कई मिनट तक दोनों अपने-अपने वतन की याद करते हुए चुपचाप रोती रहीं और फिर एक-दूसरे को इस तरह तसल्ली देती रहीं जैसे कि दोनों सगी बहनें हों। और एक सिक्ख और एक मुसलमान औरत को यूं रोते देखकर मुझे ऐसा लगा कि मुसलमानों और सिखों की तीन साल की नफ़रत इन दोनों के आँसुओं से धुल गई है।

मौंजी शरणार्थी हैं, मगर वह अपने दुःख और नुक़सान का ऐलान नहीं करतीं। हाँ, कभी-कभी एक हल्की-सी ठंडी साँस लेती हैं और कहती हैं—"बेटा! तुम्हारा बम्बई लाख बड़ा शहर हो, मगर हम तो

कभी रावलपिंडी को नहीं भूल सकते। वे खूबानियाँ, वे बग्गू गोशे...”

फिर वे चुप हो जाती हैं और उनकी धँसी हुई धुँधली-धुँधली आँखें आँसुओं से डबडबा जाती हैं। और ऐसा लगता है कि इस शरणार्थी भारत-माता के दिल में गुस्से और नफ़रत के लिए कोई जगह ही नहीं है; सिर्फ़ पुरानी यादें हैं जो उसके छूटे हुए वतन से सम्बन्धित हैं—वे यादें जो बग्गूगोशे की तरह मुलायम और नाजुक हैं और खूबानियों की तरह खूबसूरत !

नफ़रत की मौत

हर एक इन्सान के लिए उसकी अपनी माँ दुनिया में सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे प्यारी होती है। इसलिए इन भारत-माताओं में अगर मैं अपनी स्वर्गीय माँ का नाम भी शामिल करूँ तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए। मेरी जगह कोई भी होता तो वह इस सिलसिले में अपनी माँ का ज़िक्र ज़रूर करता, और करना भी चाहिए। इसलिए कि सबसे पहले अपनी माँ की सूरत ही में तो हम भारत-माता की शान देखते हैं और भारत-माता के जितने अलग-अलग रूप हैं, हममें से हर एक के लिए उनमें सबसे प्यारा और जाना-पहचाना रूप अपनी माँ का होता है।

मुझे कहना पड़ता है कि सिर्फ़ उनकी ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में मुझे अपनी माँ की बड़ाई और अच्छाई का पूरा अन्दाज़ा हुआ। उस वक्त तक वह सिर्फ़ मेरी माँ थीं, मगर सन् '४७ की भयानक घटनाओं की पृष्ठभूमि में मुझे पहली बार अपनी माँ में भारत-माता की शान और शक्ति दिखाई दी।

जब पश्चिमी पंजाब के घायल हिन्दू-सिख शरणार्थियों के आने के बाद पानीपत में मुसलमानों का रहना कठिन हो गया और वे सब पाकिस्तान जाने की तैयारी करने लगे, तो मेरी माँ पर दूसरे सगे-सम्बन्धियों ने दबाव डालना शुरू किया कि वह उनके साथ पाकिस्तान

चलें और मुझे भी लिखें कि मैं बम्बई से कराची आ जाऊँ। मगर उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया और कहा—"हम अपना वतन क्यों छोड़ें? मेरे बेटे ने हिन्दुस्तान ही में रहने का फ़ैसला किया है और इस फ़ैसले में मैं उसके साथ हूँ।" झगड़े शुरू होने बाद बीस-बाईस दिन उन्होंने पानीपत ही में गुज़ारे। सात-सात दिन का कर्फ्यू रहा; घर में सूखी रोटी और चटनी खाकर गुज़ारा करना पड़ा। कई-कई दिन बच्चों को दूध न मिला, और पान, जो उनके जीवन का अनिवार्य अंग थे, बाज़ार से ग़ायब हो गए। एक रुपए में एक पत्ता मिलता जिसके दस छोटे-छोटे टुकड़े करके वह दिन-भर चलातीं।

ख़ानदान का कोई मर्द उस वक़्त पानीपत में नहीं था। मैं बम्बई में था और मेरे एक चचेरे भाई पूना में, और एक दिल्ली में। मगर उन दिनों दिल्ली से पानीपत तक पचास मील का सफ़र करना भी मुश्किल था। ख़त और तार भी आ-जा न सकता था। फिर भी अम्माँ अपने हिन्दुस्तान में रहने के फ़ैसले पर अटल रहीं।

फिर हमारे उन रिश्तेदारों को निकालने के लिए, जिन्होंने पाकिस्तान न जाने का फ़ैसला कर लिया था, दिल्ली से एक मिलिटरी ट्रक पंडित जवाहरलाल नेहरू की मेहरबानी से रातोंरात पानीपत भेजा गया। घंटे-भर की मोहलत सामान बाँधने के लिए मिली। बुर्कों में लिपटी हुई औरतें जो-कुछ खुद उठा सकती थीं, वह साथ लेकर चल पड़ीं। मगर चलते वक़्त मेरी अम्माँ को दूर-दूर भी यह ख़याल नहीं था कि वह अपने वतन और अपने घर को हमेशा के लिए छोड़ रही हैं, बल्कि पक्का विश्वास था कि हालात सुधरते ही वह फिर पानीपत वापस आ जायँगी। इसलिए उन्होंने दरवाज़े पर एक ताला डालकर उस पर एक बोर्ड लगवा दिया—"इस घर वाले पाकिस्तान नहीं जा रहे हैं, अपने रिश्तेदारों के पास बम्बई जा रहे हैं और हिन्दुस्तान ही में रहेंगे।"

बीस दिन वे सब दिल्ली में रहे। तीस आदमी, एक कमरे में बन्द। हवाई जहाज़ के अड्डे तक पहुँचना भी मुश्किल था और रेल

के रास्ते तो थे ही ख़तरनाक। इन दिनों में यह ख़बर भी आ गई कि पानीपत में हमारे मकान लुट गए हैं और शरणार्थियों ने उन पर कब्ज़ा कर लिया है। जान का डर, कई-कई दिनों का फ़ाक़ा, और एक कमरे में बन्द रहना—सब के रंग पीले पड़ गए। बच्चों के बदन बिलकुल सूख गए। अन्त में हवाई जहाज़ का रास्ता खुला और उम्र में पहली बार मेरी अम्माँ ने बग़ैर बुर्के के सफ़र किया।

जिस दिन वह बम्बई आने वाली थीं, उससे पिछली रात मैंने जागते गुज़ारी—यह सोचते हुए कि इन सब भयानक घटनाओं ने न जाने मेरी माँ की तबीयत पर क्या असर किया होगा? क्या वह भी नफ़रत, गुस्से और साम्प्रदायिकता की इस बाढ़ में बह गई होंगी जो उस वक्त सारे हिन्दुस्तान और सारे पाकिस्तान में फैली हुई थी? क्या उनकी हमेशा की इन्सान-दोस्ती, रहमदिली और न्यायप्रियता इस खूनी समुद्र में डूब गई होगी? क्या उनके ज़िन्दादिल और हँसमुख चेहरे पर हमेशा के लिए दुःख और निराशा के बादल छा गए होंगे? मैं अपनी माँ की सेहत की हालत को अच्छी तरह जानता था। पन्द्रह बरस से वह दमे की रोगी थीं। हिस्टीरिया उनका पुराना साथी था। पति और छोटी बेटी की मौत ने उनका दिल बहुत कमज़ोर कर दिया था। साठ बरस की उम्र में अस्सी की मालूम होती थीं। बेसहारे दो क़दम चलना दूभर था। क्या वह इन सब मुसीबतों को झेलकर ज़िन्दा रह सकेंगी? और अगर ज़िन्दा रहीं भी, तो क्या वह ज़िन्दगी में कोई दिलचस्पी ले सकेंगी? न जाने हवाई जहाज़ के सफ़र को भी झेल पाएँ या······?

जब तक हवाई जहाज़ ज़मीन पर उतरा, ये सवाल मेरे दिल को बेचैन और दिमाग़ को परेशान करते रहे। और फिर मैंने देखा कि बिना बुर्के के एक चादर में मुँह छिपाए वह हवाई जहाज़ से उतर रही हैं—अपनी बेटी का सहारा लिए। और यह देखकर मेरी आँखों में आँसू आ गए कि वह, जो इतना सख्त पर्दा करती थीं और जिन्होंने इस

समस्या पर मुझसे कितनी बार कड़ी बहस की थी, आज अपनी जान बचाने के लिए बुर्का छोड़ने पर मजबूर हुई थीं! मैंने उम्र-भर कोशिश की थी कि वह पर्दा छोड़ दें, मगर उस वक्त उन्हें बिना बुर्के के आते देखकर मुझे बिलकुल खुशी न हुई बल्कि मैं डरा कि शायद इस मजबूरी के कारण उनकी तबियत में कड़वाहट आ गई हो और वह उस ज़िन्दगी पर लानत भेजने लगी हों जिसने उन्हें अपने गलत मगर प्यारे असूल को तोड़ने पर मजबूर किया था!

यही सोचता हुआ मैं उन्हें सहारा देकर मोटर तक ले गया! कुछ मिनट तक सांस की तकलीफ़ के कारण वह न बोल सकीं, फिर सांस को संभालते हुए उन्होंने कहा, ये शब्द मैं आज तक भी नहीं भूला—"भई मैं तो अब हमेशा हवाई-जहाज़ में सफ़र किया करूँगी, बड़े आराम की सवारी है।" ज़िन्दगी में उन्हें कितना अटल विश्वास था।

और उस रात को पानीपत और दिल्ली की बातें सुनाते हुए उन्होंने मेरे दूसरे सन्देहों को भी दूर कर दिया। कहने लगीं—"न ये अच्छे, न वे अच्छे! न मुसलमानों ने कसर उठा राखी, न हिन्दुओं और सिक्खों ने। सब के सिर पर खून सवार है! मगर मुसलमान होने की हैसियत से मैं तो मुसलमानों ही को ज्यादा इलज़ाम दूँगी कि उन्होंने अपनी हरकतों से इस्लाम का नाम डुबो दिया।"

उन दिनों बम्बई में दंगा-फ़साद ज़ोर-से चल रहा था। मेरी अम्मां को मालूम था कि शिवाजी पार्क, जहां हम रहते हैं, वह हिन्दू इलाक़ा है जहां उस वक्त शायद सिर्फ़ दो-तीन मुसलमानों के घर थे। फिर भी अगले दिन ही वह बुर्क़ा ओढ़ दो बच्चों की अंगुली पकड़ समुद्र की सैर करने और बच्चों के लिए सीपियां इकठ्ठी करने चल दीं। मैंने दबी ज़बान से रोकने की कोशिश भी की, मगर वह न मानीं। कहने लगीं, "अरे, मुझे कौन मारेगा?" वह बिना खटके आहिस्ता-आहिस्ता समुद्र के किनारे टहलती रहीं और मैं काफी परेशान अहाते की दीवार पर बैठा दूर से उनकी रक्षा करता रहा। मैं बुज़दिल निकला और वह बहा-

दूर ! और इंसानियत में उनका विश्वास मुझसे कहीं ज्यादा अटल साबित हुआ।

मेरा एक पंजाबी हिन्दू-शरणार्थी दोस्त उन दिनों मेरे यहां ठहरा हुआ था। यह सुनकर कि उसके शहर शेखूपुरा में बहुत हिन्दू मारे गए हैं, और मेरे दोस्त के घर वाले रातोंरात बड़ी मुश्किल से जान बचाकर वहां से भागे और बहुत तकलीफ़ें उठाकर हिन्दुस्तान के किसी शरणार्थी-कैम्प में पहुँचे हैं, मेरी अम्मां बहुत देर तक रोती रहीं और फिर मुझे अलग पास बुलाकर कहा—"देखना, यह लड़का आज से तुम्हारा भाई है, इसका हमेशा ख़याल रखना। शायद इस तरह हम उन गुनाहों का कफ़्फ़ारा (प्रायश्चित) अदा कर सकें जो हमारे हम-मज़हबों (धर्म-भाइयों) ने किये हैं।" रोज़ नमाज़ के बाद दुआ मांगतीं—"या अल्लाह ! सब बेघर—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख—अपने-अपने घर वापस हो जाएँ और उनके साथ हमें भी पानीपत जाना फिर नसीब हो जाय।" जिस दिन गांधीजी शहीद हुए, उस दिन तो हमारे घर में ऐसा मालूम हुआ कि कोई बहुत ही पास का रिश्तेदार मर गया है। उस रात अम्मां ने खाना नहीं खाया। अगले दिन सुबह से रेडियो के पास बैठी गांधीजी की अर्थी के जलूस की "कमेन्टरी" सुनती रहीं और चुपके-चुपके रोती रहीं। बार-बार ठंडी सांस भरकर कहतीं, "हाय, अब हिन्दुस्तान का क्या होगा ?"

किस्मत की अनोखी लीला देखिए कि वह जिनको अपने वतन से इतनी मुहब्बत थी, उनको मरने के बाद हिन्दुस्तान की मिट्टी नसीब न हो सकी। अपनी छोटी बेटी के पास कराची गईं और वहां उनके पुराने रोग ने ऐसा भयानक रूप धारण किया कि जान न बच सकी। मगर आख़िरी दम तक वह अपने देश की उतनी ही वफ़ादार रहीं। उन्हें मालूम था कि उनका बेटा अपने राष्ट्रीय आदर्शों की वजह से पाकिस्तान आना पसन्द न करेगा। वह यह भी जानती थीं कि अगर उनकी तरफ़ से लिखा गया कि मेरे मरने से पहले मुँह देख जाओ, तो

वह मां की खातिर वहाँ चला आयगा। और इसलिए वह मरते मर गईं मगर कभी एक बार भी मुझे आने के लिए न लिखवाया; बल्कि बेटी से कहती रहीं कि कोई ऐसी परेशानी की चिट्ठी न लिखना कि वह घबरा कर चला आए। वह हिन्दुस्तान में मरना चाहती थीं। जब ज़रा तबियत सँभली तो मुझे लिखवाया कि "परमिट" का इन्तज़ाम करा दो, मैं वापस आना चाहती हूँ। मरने से कुछ दिन पहले इंडियन हाई-कमिश्नर के दफ्तर ने "भारतीय नागरिक" मानते हुए उन्हें हमेशा के लिए हिन्दुस्तान में रहने की आज्ञा दे दी—मगर अपने वतन लौटने के सपने देखते हुए ही इस दुनिया से कूच कर गईं।

उनकी कब्र कराची के कब्रिस्तान में है, मगर उनकी आत्मा, उनकी याद, उनका जीवन-आदर्श यहीं हिन्दुस्तान में हमारे पास हैं। पानीपत में उनकी सब जायदाद लुट गई, मगर उनसे जो हमें विरसे में मिला है, वह मकानों, ज़मीनों, ज़ेवर-गहनों से कहीं ज़्यादा कीमती है।

और पाकिस्तान की छः फुट ज़मीन हमेशा-हमेशा के लिए भारत-भूमि ही रहेगी, क्योंकि उसमें एक "भारत-माता" दफ़न है!

लाल और पीला

चारों दीवारों पर तसवीरें बनी हुई थीं। श्यामवर्ण कृष्ण गोरी-गोरी, पतली कमर वाली गोपियों से खेल रहे थे। सफेद पैरोंवाले हंस कमल के फूलों के बीच पानी में खड़े थे। एक मुगल शाहजादी झरोखे से अपने घुड़सवार प्रेमी को झाँक रही थी। महात्मा बुद्ध समाधि लगाए मुक्ति के ध्यान में खोए हुए बैठे थे। एक राजपूत सुन्दरी दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखने में तल्लीन थी···सुन्दर चेहरे, सुडौल शरीर, कटीली आँखे, उभरे हुए वक्ष, लम्बे-लम्बे काले बाल, खिले हुए फूल, नाचते हुए मोर···और ऊपर छत पर रंग-बिरंगे बादल नीले आकाश में तैर रहे थे और इन बादलों में से होता हुआ भगवान् इन्द्र का सुनहरा रथ चला जा रहा था····

गोपाल के उस छोटे अंधेरे-से कमरे में कला का संसार आबाद था, कल्पना का माया बाजार लगा हुआ था। यहां सौन्दर्य था, रोमांस था, रंगीनी थी, मिठास थी, शांति थी।

मगर जब खिड़की में से उसने बाहर देखा, तो वहां यथार्थता का संसार बसा हुआ नज़र आया। नीचे गली के बीचोंबीच एक गंदी नाली बह रही थी। एक तरफ कूड़े का ढेर लगा हुआ था, एक खुजली का मारा हुआ कुत्ता एक मरियल-सी, गन्दी-सी बिल्ली को काटने के लिए दौड़ रहा था। मोटे-मोटे चूहे कूड़े के ढेर में ऐसी शांति से घूम रहे थे जैसे यह उनके सैर करने की कोई पहाड़ी सड़क हो। गन्दी नाली के

किनारे एक अधनंगा बच्चा बैठा पाखाना कर रहा था। नुक्कड़ वाली पनवाड़न की दूकान के सामने कुछ देहाती खड़े बीड़ी पी रहे थे और पनवाड़न से हंसी-मजाक कर रहे थे। बच्चे, जो एक-दूसरे के पीछे लगे हुए रेल का खेल खेल रहे थे, एक तरफ से आए और छुकछुक करते, सीटी बजाते हुए दूसरी तरफ से गुजर गए। सामने वाली 'चाल' के पीछे ही एक एल्यूमिनियम के बरतनों का कारखाना था, जिसकी ठकठक, खटखट, धड़धड़ दिन-रात चलती रहती थी। 'चाल' की छत से मिली हुई कारखाने की चिमनी थी जो धुआँ उगलती रहती थी और जब हवा इधर की होती, धुआँ इन सब 'चालों' की खिड़कियों में से अन्दर आ जाता और प्रत्येक चीज़ पर—दीवारों पर, कपड़ों पर, बिस्तरों पर—काला पाउडर मल देता। इसलिए जहां तक होता, गोपाल अपने कमरे की खिड़कियां बन्द ही रखता था कि कहीं कारखाने का धुआँ उसकी तसवीरों को खराब न कर जाय···इसके अतिरिक्त खिड़की के बाहर का दृश्य उसे सदा बहुत बुरा लगता था। जब भी वह खिड़की खोलता, उसे गन्दगी के ढेर और गन्दी नाली देखकर बेहद कष्ट होता था और जितनी जल्दी सम्भव होता, वह खिड़की बन्द करके फिर अपने कला-भवन में बन्द हो जाता, सुन्दर चित्रों में गुम हो जाता और बाहर की यथार्थता और उसकी गन्दगी, बदबू और शोर को भूल जाता।

मगर आज गरमी बहुत थी; बन्द कमरे में दम घुट रहा था। इसलिए धुएं की परवाह न करते हुए गोपाल ने खिड़कियों के पट खोल दिए। बाहर से ठंडी हवा के साथ ही बदबू का एक झोंका आया और साथ ही कारखाने की चिमनी के धुएं का गुबार। मगर आज उसने खिड़की खुली रखी और देर तक गली में आने-जाने वालों को देखता रहा—एक नई नज़र से, और आज उसे यह गली एक नई गली नज़र आई···

गोपाल एक मज़दूर था। वह सामनेवाले एल्यूमिनियम के कार-

खाने में काम करता था। मगर वह एक कलाकार भी था जो पेट पालने के लिए मज़दूरी करने पर मजबूर था। उसने अपने जीवन को दो भागों में बांट रखा था। चौबीस घंटों में से आठ घंटे वह कारखाने की गर्म और बदबूदार हवा में पसीने में नहाए हुए मैले-कुचैले कपड़े पहने मज़दूरों के साथ काम करता। बाकी सोलह घंटे वह कल्पना और कला की दुनिया में विचरता—एक रूमानी दुनिया में जहां न मज़दूर थे न कारखाने, न धुआं, न बदबू, न गन्दी नाली। बस सुन्दर रंग थे, सुन्दर चेहरे थे, फूलों से ढकी हुई हरी-भरी वादियां थीं, ऊंचे-ऊंचे बर्फ़ीले पहाड़ थे। जब तक वह अपने कमरे में रहता, इसी दुनिया में खोया रहता। कारखाने से जो कुछ भी मज़दूरी मिलती उसमें से कमरे का किराया देने और एक समय खाना खाने के बाद जो कुछ बचता उससे रंग खरीदता—आयल-पेंट, वाटर-कलर, कैनवस, कागज—और चित्र बनाता रहता। देवताओं के चित्र, जिनकी आकृति उसके मस्तिष्क में बचपन से जमी हुई थी; उन सुन्दर स्त्रियों के चित्र जो केवल उसकी कल्पना में बसती थीं; उन फूलों के चित्र, जिन्हें उसने कभी नहीं सूंघा था, उन फलों के चित्र, जिनको वह कभी खरीदकर खा न सका था··· कुछ घन्टों के लिए वह सोता भी, तो वह इन चित्रों को सपने में देखता रहता और कभी-कभी सपने में उसे कोई ऐसा सुन्दर दृश्य दिखाई दे जाता कि वह बेचैनी से उठ खड़ा होता और रोशनी जलाकर पेन्ट करना आरम्भ कर देता। उसने सैकड़ों कैनवस लाल-पीले कर डाले थे। जब कैनवस खरीदने को दाम न होते, तो कागज पर चित्र बनाता; कागज समाप्त हो जाते तो दीवारों पर, छत पर, यहां तक कि टूटी हुई कुर्सी के तख्ते पर भी दोनों तरफ उसने चित्र बना डाले थे···

मगर जिन चीज़ों के वह चित्र बनाता, उनका उसके अपने जीवन से कोई दूर का सम्बन्ध भी नहीं था। इस जीवन में भला सौन्दर्य कहां था? यहां तो गरीबी, मेहनत, गन्दगी, बदबू थी और गोपाल का विचार था कि इन चीजों का कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। कला

को केवल सुन्दर चीज़ों से सरोकार होना चाहिए और खूबसूरती गोपाल को केवल अपनी कल्पना में मिल सकती थी...

गोपाल चित्र क्यों बनाता था ? इसका उत्तर शायद वह आप भी न दे सकता था। उसका कोई चित्र आज तक न बिका था। किसी पत्र में उसके चित्रों का उल्लेख कभी न छपा था। कला की दुनिया में कोई उसका नाम भी न जानता था। फिर वह चित्र क्यों बनाता था ?

शायद इसलिए कि उसका पिता त्योहारों के अवसर पर मिट्टी से देवी-देवताओं की मूर्त्तियां बनाया करता था और बचपन से गोपाल को अपने पिता के रंग चुरा कर काग़ज़ पर रेखाएँ खींचने का शौक हो गया था। शायद इसलिए कि स्कूल में ड्राइंग की क्लास के सिवाय और किसी काम में उसका जी न लगता था और ड्राइंग-मास्टर ने उसके बनाए हुए चित्रों को देखकर उसकी हिम्मत बढ़ाई थी। शायद इसलिए कि गोपाल ग़रीब था और एक गन्दी गली में एक बदबूदार 'चाल' में रहता था और उसे अपने मन की भड़ास निकालने के लिए एक निकास की आवश्यकता थी। अनाथ और ग़रीब, गोपाल के दिल में सौन्दर्य, नर्मी और प्रेम की एक अजीब प्यास थी जिसको ये चित्र बनाकर ही वह बुझा सकता था।

गोपाल चित्र क्यों बनाता था ? शायद इसलिए कि जब वह सत्रह बरस का था, उसने एक लड़की से प्रेम किया था—एक लड़की से, जो उसके पड़ोस में रहती थी, जो सुन्दर थी, जो अमीर बाप की बेटी थी और ग़रीब गोपाल की पहुँच से बाहर थी और इसलिए इस प्रेम का वह कभी प्रदर्शन न कर सका था। वह मुहब्बत उसके दिल-ही-दिल में घुटी रही थी, मगर बुझी नहीं थी। राख में दबी हुई चिन्गारी की तरह वह चुपचाप सुलगती रही थी—और बरसों बाद जब वह अपना कस्बा छोड़कर बम्बई आ गया था और वह लड़की डिप्टी कलक्टर के चार बच्चों की मां बन चुकी थी—अब भी मुहब्बत की वह भावना गोपाल के दिल में सुलग रही थी और उसको व्यक्त करने का भी इन तसवीरों

के सिवाय दूसरा कोई तरीका नहीं था। गोपाल ने रजनी को सिर्फ देखा था, कभी उससे बात भी न कर पाया था। बस दूर से उसकी पूजा की थी। और इसलिए अब भी बड़े आदर और श्रद्धा से अपने चित्रों में गोपाल उसकी पूजा कर रहा था। कभी सरस्वती के रूप में, तो कभी शकुन्तला के रूप में, कभी मुग़ल शाहज़ादी की पोशाक में, तो कभी राजपूत राजकुमारी के सिंगार में। पुजारी की निगाहों ने रजनी को लड़की से अमर सुन्दरता की एक पुतली बना दिया था—एक कवित्व-मयी रचना—एक देवी—जिसका इस दुनिया की चलती-फिरती बोलती-चालती सुन्दर लड़कियों से कोई सम्बन्ध नहीं था, जिसकी आंखें 'मृगनैना' थीं, कमर इतनी पतली जैसे थी ही नहीं, और हाथों की उँगलियाँ इतनी नाज़ुक···

आज गोपाल फिर रजनी की याद को एक नए चित्र के सांचे में ढालना चाहता था। अगले महीने शहरमें एक कला-प्रदर्शनी होने वाली थी और गोपाल उसमें एक नया चित्र बनाकर भेजना चाहता था—ऐसा चित्र जिसमें उसकी सारी कला का निचोड़ हो, जो सचमुच अद्वितीय हो, जिसे देखकर हर कोई उसकी निपुणता का लोहा मानने पर मज-बूर हो जाए······कौन जानता है, शायद उसके चित्र को पुरस्कार भी मिल जाय···मगर उसका असली ध्येय न पुरस्कार था, न प्रसिद्धि। वह तो अपने मन में सुलगते हुए प्रेम को कला के रूप में अमर कर देना चाहता था--रजनी का एक ऐसा चित्र बनाकर जिसमें उसका सारा सौन्दर्य, उसकी जवानी, उसकी आंखों की मस्ती, उसके सुडौल शरीर का हर अंग ऐसी सुन्दरता से उभर आये कि दुनिया देखे और वाह-वाह करे, और शायद रजनी भी इस चित्र को कहीं देखे····और इतने वर्षों के बाद इस चित्र की ज़बान से गोपाल अपने गूंगे प्रेम का सन्देश रजनी तक पहुँचा सके···

हां, तो आज वह रजनी का चित्र बनाना चाहता था, मगर नहीं बना सकता था। खाली कैनवस चौखटे पर चढ़ा हुआ उसके ब्रुश की

मार का इन्तज़ार कर रहा था, मगर रजनी के गालों में लाली भरने के लिए गुलाबी रंग चाहिए था और आज गोपाल के पास लाल रंग खत्म हो चुका था। बाज़ार से नया रंग खरीदने के लिए पैसे भी जेब में नहीं थे। इतना लाल रंग भी नहीं था कि तसवीर में रजनी के माथे पर बिन्दी ही बना सके···

फिर उसने सोचा कि मैं रजनी की तसवीर नहीं बल्कि भगवान् कृष्ण के बालकपन की तसवीर बनाऊँगा; उनके सुन्दर श्याम शरीर में बचपन का भोलापन और नर्मी भर दूँगा, उनके चेहरे पर अमर बचपन की चंचलता और चपलता होगी···मगर आज उसके पास नीला रंग भी तो नहीं था।

तो फिर फूलों से ढकी हुई एक हरी-भरी पहाड़ी—दूर सूरज डूब रहा हो—सुन्दर पहाड़िनें सिरों पर गागरें उठाए चश्मे से पानी ला रही हों—मगर उसके पास हरा रंग भी नहीं था।

लाल रंग नहीं था। गुलाबी नहीं था। हरा नहीं था। नीला नहीं था। सुनहरा नहीं था। गेरुआ नहीं था—बस एक रंग बाकी रह गया था—काला, स्याह रंग—क्योंकि इस रंग का अब तक उसने अपने चित्रों में कभी उपयोग न किया था।

मगर काले रंग से कोई सुन्दर रूमानी चित्र थोड़े ही बनाया जा सकता है? काला तो उदासी का रंग है, गरीबी और बदसूरती का रंग है। काले रंग से रजनी की तसवीर नहीं बनाई जा सकती, बाल-गोपाल की तसवीर नहीं बन सकती, न किसी सुन्दर राजकुमारी की, न शाहज़ादी की। न हरी-भरी फूलों से लदी पहाड़ी की, न रंगीले सूर्यास्त की। इस बदसूरत, अशुभ रंग से तो बस इस अँधेरी, गन्दी, बदबूदार गली की तसवीर ही बन सकती है······

इस गली की तसवीर? नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है? भला ऐसे भयानक दृश्य की तसवीर कौन देखना पसन्द करेगा? मगर···

इस बार गोपाल ने खिड़की के बाहर झाँककर नीचे गली को देखा

तो उसे 'चालों' की टेढ़ी-मेढ़ी दीवारों में, उनके ऊपर छाई हुई चिमनी, और उससे निकलते हुए धुएँ में, खेलते हुए बच्चों में, पनवाड़न की दूकान के आगे लगी हुई भीड़ में एक अजीब, अनोखा कलात्मक नक्शा उभरता हुआ दिखाई दिया। 'चालों' की दीवारें एक-दूसरे पर इस बेढंगे अन्दाज से गिरी पड़ रही थीं जैसे लड़खड़ाते हुए शराबी एक-दूसरे का सहारा लेने की कोशिश कर रहे हों। दीवारों के साये जमीन पर काले त्रिकोण बना रहे थे। रोशनी और साया, साया और रोशनी। ढलते हुए सूरज की तिरछी किरणों ने एक तरफ की दीवारों पर पीला-पीला उजाला कर रखा था और दूसरी तरफ साया। प्रकाशमान दीवारों पर काली-काली खिड़कियाँ ऐसी लगती थीं जैसे अंधी दृष्टिहीन आँखें हों। खेलते हुए गरीब बच्चे कठपुतलियाँ लगते थे और उनके लम्बे, तिरछे साए ऐसे लग रहे थे जैसे उनके भयानक भविष्य की परछाईं अभी से उनके साथ लगी हो। मरियल बिल्ली के पीछे दौड़ता हुआ खुजली-खाया कुत्ता किसी हज़ारों वर्ष पुराने युग की याद दिला रहा था जब जंगल का कानून चलता था और हर बलवान पशु अपने से कमजोर पशु को हड़प कर जाना अपना अधिकार समझता था। दीवार के नीचे खड़े हुए मज़दूरों की मैली धोतियों में से निकली हुई काली टांगे ऐसी लगती थीं जैसे वह पतले-पतले काले स्तम्भ हों जिन पर इस सारी ऊँची इमारत का बोझ है। और खपरैल की तिकोनों के ऊपर कारख़ाने की चिमनी एक बड़ी डरावनी उँगली की तरह आसमान की तरफ इशारा कर रही थी—और उसमें से निकलता हुआ धुआँ आसमान में इस तरह फैल रहा था जैसे कोई काली शैतानी पताका हवा में लहरा रही हो।

गोपाल को, जो इस गली से और इसकी हर चीज़ से नफ़रत करता था, आज इस दृश्य में एक तसवीर उभरती नज़र आई, एक भयानक तसवीर। मगर उसे ऐसा महसूस हुआ कि शायद इस अँधेरे, बदसूरत, भयानक दृश्य को पेन्ट कराने के लिए ही भाग्य ने उससे सारे सुन्दर

लाल और पीले और नीले और हरे रंग छीन लिए थे······

और फिर उसने सोचा, अच्छा, ऐसा है तो यही सही। दो साल से मैं देवी-देवताओं, राजकुमारियों और शाहज़ादियों की रंग-बिरंगी तसवीरें बनाता रहा हूँ, मगर दुनिया ने उन्हें आँख उठाकर भी न देखा। मैं अपनी कला के मन्दिर में रजनी की पूजा करता रहा हूँ, मगर उसने कभी मुझे भूले से भी याद नहीं किया। मैंने उसके चरणों में इन्द्रधनुष के सारे रंग धर दिये, मगर उसने मेरी भेंट को कभी स्वीकार न किया। मैंने अपनी कला के लिए मज़दूरी करके, भूखा रहकर, अपनी नींद और आराम और अपने खून की भेंट दी है, मगर उसका वरदान मुझे क्या मिला? अब मैं इस दुनिया, इस समाज से यह भयानक चित्र बनाकर ही बदला लूँगा ताकि लोग देखें कि कहाँ और किस हाल में और किस वातावरण में ग़रीब गुमनाम कलाकार अपना जीवन बिता रहे हैं। और उसी क्षण चित्र का नाम भी बिजली की तरह कौंधता हुआ उसके दिमाग़ में आ गया—'जहाँ मैं रहता हूँ!' अपने रंगों के डिब्बे को उठाकर वह खिड़की तक लाया और उसमें से लाल और नीले और पीले और हरे रंगों के खाली पिचके हुए ट्यूब बाहर गली में फेंक दिए और काले रंग की एक भरी हुई ट्यूब ऐसे उठा ली जैसे यही उसका हथियार हो।

दो दिन और दो रात वह बराबर इस चित्र पर काम करता रहा। खाना-पीना, नहाना-धोना, कपड़े बदलना—सब-कुछ भूल गया··· उसके दिमाग़ में धुन थी तो यही कि इस अँधेरी गन्दी गली की तसवीर में उस सारे समाज की तसवीर खींच कर रख दे जो इस अँधेरे और इस गन्दगी को परवान चढ़ाती है—यहाँ तक कि उसके कैनवस पर न सिर्फ़ गली की आकृति नज़र आने लगी बल्कि उस गली की आत्मा भी उभर आई। इस आत्मा की चेतना गोपाल को पहली बार हुई थी—तसवीर बनाते हुए उसने अपनी गली को एक नए ढंग से देखा था—और उसकी निगाह गली की गन्दगी और अँधेरे को चीरती हुई उस मनु-

व्यता तक पहुँची थी जो इस गन्दगी और अँधेरे में छिपी हुई थी। अब गोपाल ने देखा कि उसकी गली ईंट-पत्थर-लकड़ी के ढेरों से मिल कर नहीं बनी, बल्कि उन इनसानों की ज़िन्दगी के ताने-बाने से बनी है जो इसमें रहते हैं। पहली बार उसने देखा कि यहाँ के रहने वाले जान-बूझकर गन्दे नहीं रहते—बल्कि गन्दा रहने पर मजबूर हैं। उसने देखा कि पनवाड़न की दूकान के सामने लगा हुआ नल सिर्फ़ दो-तीन घंटे के लिए चलता है—वह भी बड़े सवेरे जब आसपास की सब 'चालों' की औरतें अपनी-अपनी गागरें लेकर पानी भरने आती हैं और पानी की एक-एक क़ीमती बूँद पर कितना लड़ाई-झगड़ा होता है और फिर नल में पानी आना बन्द हो जाता है और कितनी ही औरतें ख़ाली गागरें लिए म्यूनिसिपैलिटी को गालियाँ देती हुई वापस चली जाती हैं। सो उसने अपने चित्र में सुबह का समय ही रखा और दिखाया कि औरतों की कतार ख़ाली गागरें लिए प्रतीक्षा में खड़ी है। एक गागर नल के नीचे रखी है और नल में से पानी की एक बूँद—सिर्फ़ एक बूँद—टपक रही है। अब गोपाल ने देखा कि इस गली के निवासी गन्दे हों मगर बुरे नहीं थे; वे आपस में लड़ते थे, गाली-गलौज करते थे, मगर उनके दिलों में क्रोध और लोभ नहीं था। वह मेहनत-मज़दूरी से झुके-झुके परेशान ज़रूर रहते थे, मगर उनके चेहरों पर से मुस्कराहट बिलकुल ग़ायब न हुई थी। वे अब भी हँस सकते थे, और हँसते थे···और गोपाल ने कोशिश की कि यह सब-कुछ उसके चित्र में आ जाय। मगर जब तसवीर बनकर तैयार हुई तो गोपाल को संतोष न हुआ। उसे महसूस हुआ कि चित्र में किसी तत्त्व की कमी है—गली की उस आत्मा की कमी, जो वहाँ के वासियों की हँसी, मुस्कराहट, चीख़-पुकार और बच्चों के खेल-कूद में व्यक्त होती थी। उस आशा की कमी थी जो उस गली के रहने वालों के दिल में अभी तक ज़िन्दा थी—मगर उस आत्मा को, उस आशा को, उस तड़प और उत्साह को, उस गली के भविष्य को कैसे इस चित्र में दिखाए? रात-भर गोपाल

खिड़की में बैठा यही सोचता रहा, मगर उसकी समझ में न आया— यहाँ तक कि सवेरा हो गया और सोती हुई गली आँखें मलती हुई जाग उठी। औरतें फिर लाइन बनाकर नल के पास खड़ी हो गईं। पनवाड़न ने अपनी दूकान खोलकर झाड़ना-पोंछना शुरू कर दिया। कितनी ही रसोइयों से धुआँ निकल कर चिमनी के धुएँ में मिलने लगा— यही सब-कुछ तो उसने अपनी तस्वीर में भी दिखाया था। मगर जब उसकी निगाह छतों पर से होती हुई ऊपर उठी तो एकदम उसे पता चल गया कि उसकी तसवीर में किस चीज़ की कमी है। सुर्ख़ी की कमी···

सारे आकाश पर ऊषा की लाली फैली हुई थी, जैसे किसी सुन्दरी ने—जैसे रजनी ने—सोकर उठते ही अपने चेहरे पर पाउडर-सुर्ख़ी मल ली हो। और इस गुलाबी आकाश की पृष्ठभूमि में गली की गन्दगी और स्याही और उभर आई थी। मगर यह मौत की स्याही नहीं थी, रात की स्याही थी—काली रात जो अब ख़त्म हो रही थी; सवेरे की सुर्ख़ी में घुलती जा रही थी···

उसकी तसवीर के आकाश को भी सवेरे की, नये दिन की, आशा की सुर्ख़ी से जगमगा उठना चाहिए। यह भावना बिजली की तेज़ी के साथ उसके दिमाग़ में चमकी। मगर यह सुर्ख़ी आए कहाँ से? उसके पास लाल रंग तो था ही नहीं, न बाज़ार से ख़रीदने को पैसे थे···

चित्र के आकाश में सुर्ख़ी तो ज़रूर होनी चाहिए····

गोपाल को याद आया कि उसी दिन तसवीर को प्रदर्शिनी के लिए भेजना था···

मगर सुर्ख़ी न हुई तो तसवीर पूरी न होगी, अधूरी रहेगी। अधूरी ही नहीं, झूठी होगी···

सुर्ख़ी कहाँ से आए?

ऊपर आसमान पर सुर्ख़ी छाई हुई थी, मगर गोपाल के हाथ वहाँ तक न पहुँच सकते थे कि ऊषा के चेहरे से उतारकर अपनी तसवीर में

सुर्ख़ी भर दे।

तो क्या तसवीर अधूरी रह जायगी ?

नहीं, नहीं···

गोपाल को ऐसा लग रहा था कि तसवीर अधूरी रही तो उसका जीवन, उसकी मेहनत, उसकी कला, सब बेकार हो जायगी······

तीन रातों को जागने के बाद उसका सिर चकरा रहा था, हाथ-पाँव ताप से जल रहे थे, गाल तमतमा रहे थे····

उसे अपना कमरा, सारे चित्र—महात्मा बुद्ध, भगवान् कृष्ण, सावित्री और शकुन्तला, मुग़ल शाहज़ादी और राजपूत राजकुमारी, और हर एक चेहरे में से रजनी की याद झाँकती हुई, कमल के फूल, हरी-भरी वादियाँ—हर चीज़ घूमती हुई लग रही थी। बस सिर्फ़ एक चीज़ अपनी जगह पर कायम थी—उसकी नई बनाई हुई तसवीर, जो पूरी होने के लिए, शाहकार बनने के लिए, सुर्ख़ी की कुछ बूँदों की प्यासी थी········

न जाने कैसे और कब गोपाल उस टूटे हुए शीशे के सामने खड़ा हो गया जिसमें देखकर वह दाढ़ी बनाया करता था। दर्पण में अपनी सूरत देखकर वह डर गया। दाढ़ी बढ़ी हुई, बाल उलझे और धूल में अटे हुए, कमीज़ के कालर पर काले पेन्ट के धब्बे, आँखों में लाल-लाल डोरे, और तमतमाते गालों पर सुर्ख़ी—बुख़ार में जलते हुए, खौलते हुए, दौड़ते हुए ख़ून की सुर्ख़ी······

× × ×

कला-प्रदर्शिनी में सबसे अधिक भीड़ 'जहाँ मैं रहता हूँ'! के सामने थी। पहला इनाम भी इसी को मिला था।

कला को समझने वाले, कला को परखने वाले, कला को ख़रीदने वाले, कला को बेचने वाले, कला की दलाली करने वाले, कला की पूजा करने वाले, कला के बारे में लम्बी-चौड़ी डींगें मारने वाले, सभी वहाँ मौजूद थे। सभी गोपाल के चित्र की प्रशंसा कर रहे थे—

"यह है सच्ची कला !"

"ज़िन्दगी का यथार्थ रूप !"

"कितनी जान है इस तसवीर में ! मुँह से बोलती है !"

"गोपाल ने चित्र नहीं बनाया, जीवन को दर्पण दिखाया है।"

"मगर दो सौ रुपये बहुत हैं इस तसवीर के।"

"कला का कोई मूल्य नहीं होता।"

"इस चित्र से रूमानी कला का युग समाप्त होता है और नई प्रगतिशील कला के युग का आरम्भ होता है।"

"कितनी गहरी निगाह है आर्टिस्ट की—हर छोटी चीज़ तक पहुँची है !"

"ऐसा लगता है, कलाकार ने महीनों इस गली में जा-जाकर वहाँ के जीवन का गहरा अध्ययन किया है।"

"इस पूरी गली को सिर्फ़ काले रंग से पेन्ट किया, इस ख़्याल को भी दाद देनी पड़ती है।"

"कितनी उदासी है इस स्याही में, कितना दुख, कितना दर्द, कितना गहरा सन्नाटा—जैसे एक गली की तस्वीर न हो, दुनिया के सारे ग़रीबों के जीवन की तस्वीर हो।"

"हाँ, मगर आसमान पर जो ऊषा की लाली है, असल कमाल तो यह है जिससे तस्वीर का मतलब ही बदल जाता है। बजाय निराशा के, यह चित्र जनता के प्रकाश-युक्त भविष्य की झलक दिखाता है।"

"यह सुर्ख़ रंग का इस्तेमाल सचमुच खूब किया है।"

"और यह मामूली लाल रंग नहीं है—खून-जैसा सुर्ख़ है, जिसमें हल्की-हल्की स्याही दौड़ती जा रही है।"

"आर्टिस्ट ने जान-बूझकर यह रंग लगाया है—मानो नये सवेरे की लाली जनता के ख़ून से जन्म लेती है।"

"जनता के ख़ून से, या कलाकार के ख़ून से ?"

और इस पर सब ठट्ठा मारकर हँस पड़े। इतने में किसी ने कहा—

"गोपाल आर्टिस्ट को भी देखा ?"

सबकी निगाहें घूम गईं—"कहाँ? किधर ?"

"वह क्या है! दुबला-सा, सूखा-सा नौजवान जो दीवार का सहारा लिए दूर से अपनी तस्वीर की तरफ़ देख रहा है।"

"नहीं जी, वह नहीं हो सकता। इतना बड़ा कलाकार और ऐसे फटे-पुराने कपड़े···"

"मगर मैं कहता हूँ, यही है गोपाल।'

"बीमार मालूम होता है, बेचारा! चेहरे का रंग तो देखो। बिलकुल पीला। मानो शरीर में खून है ही नहीं।"

मैं कौन हूँ

"हाँ, तो तुम सब जानना चाहते हो कि मैं क्यों हँस रहा हूँ...

"तुम जानना चाहते हो कि एक आदमी जो मरने के करीब हो, कैसे खिलखिलाकर हँस सकता है......"

"तुम रहने दो, डाक्टर साहब, क्यों तकलीफ करते हो? अपनी डिस्पेन्सरी में कुनैन मिक्सचर और एस्पिरीन की गोलियाँ बेचो, तुम मुझे मरने से नहीं बचा सकते। बात यह है कि मुझे एक छोड़ दो घाव लगे हैं। एक पसलियों में आर-पार कमर से लेकर कलेजे तक। दूसरा पेट में। देखते नहीं, आंतें बाहर निकल आई हैं........

"हाँ, तो तुम सब जानना चाहते हो कि मरता हुआ आदमी कैसे हँस सकता है? मैं अभी बताता हूँ...बात यह है कि मुझे याद आ गया है कि मैं कौन हूँ। क्या कहा तुमने बड़े मियाँ? इसमें हँसी की क्या बात है? कमाल किया तुमने, हँसी की नहीं तो क्या रोने की बात है? एक महीने से मैं यह मालूम करने की कोशिश कर रहा था कि मैं कौन हूँ। हिन्दू या मुसलमान या सिक्ख, जिसके बाल और दाढ़ी ज़बर्दस्ती मूँड दिये गए हों और ज़बर्दस्ती ख़तना कर दिया गया हो। ब्राह्मण या अछूत?......अमीर या गरीब?......पूर्वी पंजाब का रहने वाला या पच्छिमी पंजाब का?......लाहौर का रहने वाला या अमृतसर का?......रावलपिंडी का या जालंधर का?.......मैंने ही नहीं,

बल्कि बहुत-से लोगों ने यह मालूम करने की कोशिश की कि मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है, जाति क्या है, नाम क्या है?........पर किसी को नहीं मालूम हो सका........खुद मुझे याद आ गया। पर याद आया तो अब......अब, जब कि मैं मर रहा हूँ...

"डाक्टर साहब! तुम इतने परेशान न हो, नहीं तो तुम्हारी शक्ल देखकर मुझे और हँसी आयगी। यकीन मानो कि तुम क्या, अब दुनिया का कोई डाक्टर भी मुझे नहीं बचा सकता........मैं जानता हूँ कि तुम किस सोच-विचार में पड़े हो? मेरे दो घाव इतनी बेढब जगहों पर लगे हैं कि तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा है कि पहले किसकी मरहम-पट्टी करो। पहले चित लिटाकर आँतों को अन्दर डालकर सीते हो तो इतनी देर में कमर वाले घाव से इतना खून बह जायगा कि एक टाँका भी न लगा सकोगे और मैं मर चुकूँगा। और अगर तुम उल्टा करके पहले कमर के घाव की खबर लेते हो तो इतनी देर में अन्तड़ियाँ तो अन्तड़ियाँ सारा कलेजा बाहर निकल आएगा..."

"हाँ, तो बात यह है कि एक महीना हुआ जब मेरा दिमाग़ न जाने कितने दिनों के बाद एक अँधेरे सपने से बाहर निकला और मैंने अपने आपको देहली के एक सरकारी अस्पताल में पड़ा पाया तो मेरी याद एकदम ग़ायब हो चुकी थी। डाक्टर ने पूछा—'तुम्हारा नाम?' "

"मैंने बहुत सोचा, दिमाग़ पर ज़ोर डाला। फिर कहना पड़ा—'याद नहीं।' "

"हिन्दू हो या मुसलमान?" डाक्टर ने दूसरा सवाल किया। मुझे यह भी याद नहीं था।

"कुछ भी याद नहीं था। धर्म, मज़हब, जाति, जमाअत, देश, शहर, मुहल्ला, यह भी याद नहीं था कि मेरी शादी हो चुकी है या कुँआरा हूँ, या रँडुआ। और-तो-और मुझे अपनी उमर का भी कोई अन्दाज़ नहीं था। न जाने क्यों होश आने पर मेरा ख़याल था कि मैं

काफ़ी जवान हूँ। लेकिन जब एक नर्स ने आइना दिखाया तो मैं अपनी शक्ल देखकर डर गया। सर के आधे बाल सफ़ेद, आठ-दस दिन की बढ़ी खिचड़ी रंग की दाढ़ी। आँखें अन्दर धँसी हुईं, चेहरे पर झुर्रियाँ, गरज़ यही हुलिया जो अब भी तुम लोग देख रहे हो। हाँ, उस वक्त सर के सफ़ेद बालों में खून की मेंहदी नहीं लगी थी, जो अब लगी हुई है। देखा, तुम भी हँस दिये। खून की मेंहदी ? औरतें हथेलियों पर लगाती हैं और बूढ़े मर्द सिर के सफ़ेद बालों में। अब खुद ही बताओ कि यह सोचकर हँसी क्यों न आए······"

"हाँ, तो दिल्ली के डाक्टरों ने बहुत कोशिश की कि मेरा नाम, पता, धर्म, मज़हब मालूम हो जाय, पर कुछ पता न चला। मैंने खुद बड़ी दौड़-धूप की, क्योंकि बिना अपना नाम जाने हुए ऐसा लगता था जैसे मैं ज़िन्दा नहीं हूँ, मुर्दा हूँ। पूछताछ करने पर पता चला कि पचास-साठ और घायलों के साथ मुझे पंजाब से लाया गया है। मैंने सवाल किया कि बाकी ज़ख्मी हिन्दू थे या मुसलमान तो मालूम हुआ कि हिन्दू भी थे, सिक्ख भी और मुसलमान भी। हुआ यह था कि अमृतसर और लाहौर के बीच एक-एक करके दो रेलें पटरी से उतार दी गई थीं। एक में पच्छिमी पंजाब से हिन्दू अमृतसर आ रहे थे, दूसरी में पूर्वी पंजाब से मुसलमान लाहौर जा रहे थे। रात के ग्यारह बजे के क़रीब एक स्पेशल के नीचे बम फटा। पहिये पटरी से नीचे आ रहे, इंजन उलट गया। कितने तो वैसे ही मर गए, बाकी मुसाफ़िरों पर गोलियाँ बरसने लगीं। रात के अँधेरे में घायल गिरते-पड़ते इधर-उधर भागे। इसके बाद उस जगह से मील-भर दूर दूसरी स्पेशल पर जो उल्टी तरफ से आ रही थी, हमला हुआ। इस बार बम की ज़रूरत नहीं पड़ी। गाड़ी जैसे ही एक मोड़ पर हल्की हुई, उस पर मशीनगन की गोलियों की बौछार पड़ी। ड्राइवर, गार्ड और बहुत से मुसाफ़िर जो खिड़कियों के पास बैठे थे, तुरन्त खतम हो गए। इंजन मस्त हाथी की तरह धड़धड़ाता गाड़ी को घसीटता चला गया पर थोड़ी ही

दूर पर रेल की पटरी का काँटा बदल दिया गया था, इसलिए पूरी गाड़ी उलट गई। उसके घायलों ने भी रात के अँधेरे में पनाह ली··· दूसरे दिन सवेरे जब हिन्दुस्तानी सरहदी फौजें और पाकिस्तानी सरहदी फौजें गश्त को निकलीं तो उन्होंने कितने ही हिन्दुओं और मुसलमानों को बिलकुल नई सरहद पर मुर्दा और ज़ख्मी पाया। उनमें मैं भी था······अब तुम्हीं कहो, हँसी न आए यह सुनकर कि कितने ही हिन्दुओं ने अँधेरे में पाकिस्तान में दम तोड़ा था और कितने ही मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में।

"और फिर भी वह इस तरह ठीक सरहद पर मिले-जुले पड़े थे कि यह कहना मुश्किल था कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान। कौन हिन्दुस्तान में है और कौन पाकिस्तान में, कुछ भी हो, नई सरहद की लाइन ज़रूर खिंच गई थी, खून से! ना यों कहिए कि बूढ़ी जमीन के बालों में खून की मेंहदी लग गई थी······

"देखो सफेद दाढ़ी वाले वाले मौलाना, घबराओ मत, मेरा इशारा तुम्हारी दाढ़ी की तरफ बिलकुल नहीं था, तुम मेरी तरफ इस तरह न घूरो। मैं जानता हूँ, तुम क्या सोच रहे हो? मैं मर रहा हूँ न, और मरते वक्त इन्सान पर सब भेद खुल जाते हैं। हाँ, तो तुम सोच रहे हो कि अगर मैं मुसलमान होने का ऐलान कर दूँ तो तुम अंजुमन खुद्दामुल-मुसलमीन की तरफ से मेरे कफन-दफन का बन्दोबस्त अभी से शुरू कर दो। और लम्बी चोटी वाले महाशय जी! मैं तुम्हारे विचार भी जानता हूँ, तुम इस ताक में हो कि कब मैं अपने हिन्दू होने का इकरार करूँ और कब तुम धर्म सेवक-समाज की ओर से मेरे क्रिया-कर्म का इन्तजाम शुरू कर दो। मैंने सुना है, यहाँ बम्बई में पारसी लोग अपने मुर्दों को मलाबार हिल पर एक खुले मैदान में रख आते हैं जिसमें कि गिद्ध लाशों को खा जायँ। यह भी सुना है कि हज़ारों गिद्ध हर वक्त इस इन्तज़ार में मँडलाते रहते हैं कि कब कोई ताज़ा लाश लाई जाय,·······पर यह नहीं मालूम था कि ऐसे गिद्ध भी होते हैं जो

मौत से पहले ही मरने वाले पर मँडलाते रहते हैं।

"किसी ने मुझे बताया कि जब मुझे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरहद पर इस तरह बेहोश पड़ा पाया गया कि मेरी एक टाँग हिन्दुस्तान में थी तो दूसरी पाकिस्तान में। एक हाथ इधर तो दूसरा उधर। उस वक्त मेरे बदन पर एक फटी हुई सलवार और खून में लथपथ कमीज़ थी। कौन कह सकता था कि यह पंजाबी हिन्दू का लिबास है या पंजाबी मुसलमान का। खैर, न जाने क्यों मुझे देहली ले आया गया। मुझे घाव तो मामूली आए थे, जो जल्दी अच्छे हो गए, लेकिन डाक्टर कहते थे कि दिमाग़ में कोई गहरी अन्दरूनी चोट आई है जिससे याद ग़ायब हो गई है.........

"हाँ साहब! तो मैं दुनिया में एक बड़ा ही अजीब आदमी बन गया। जिसको न अपना नाम याद था, न अपना पता, न धर्म। मेरी तसवीरें हिन्दुस्तान भर के अखबारों में छपीं और पाकिस्तान के अखबारों में भी, लेकिन मेरे किसी रिश्तेदार, दोस्त या जानने वाले ने मेरी खबर न ली। शायद सब-के-सब खतम हो चुके थे। शायद सिरे से मेरा कोई रिश्तेदार, कोई दोस्त या कोई जानने वाला था ही नहीं। और इस बीच में घाव अच्छे होने पर मुझे अस्पताल से निकाल दिया गया। मैंने सोचा मेरे जैसे मुसीबत के मारे के लिए कहीं तो दो रोटियों का इन्तज़ाम हो ही जायगा।

"फिरता-फिराता जामे मस्जिद के पास एक कैम्प में पहुँचा।" मैंने कहा—'मैं मुसीबत का मारा हूँ, मुझे पनाह दो।' कैम्प के मैनेजर ने पूछा—'हिन्दू हो या मुसलमान?' मैंने जवाब दिया—'याद नहीं।' और यही सच भी था। झूठ बोलने की मेरी ख्वाहिश ही नहीं थी। मैनेजर ने टका-सा जवाब दे दिया—'यह कैम्प सिर्फ़ मुसलमानों के लिए है।' सड़कों की खाक छानता पुरानी दिल्ली से नई दिल्ली पहुँचा। वहाँ एक बहुत बड़ा कैम्प दिखाई पड़ा। दरवाजे पर मैंने कहा—'मैं बड़ा दुखी हूँ, तीन वक्त से दाना पेट में नहीं गया, मुझे

पनाह दो।' पूछा गया—'हिन्दू हो या मुसलमान?' मैंने फिर वही जवाब दिया—'मुझे याद नहीं।'

"नाम?···'नाम भी याद नहीं।' जवाब मिला···'यह कैम्प सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए है।' न जाने कितनी देर तक मैं पुरानी देहली और नई देहली की धूल फाँकता रहा। कितने ही कैम्प नज़र आए, लेकिन वे या तो हिन्दुओं और सिक्खों के लिए थे या मुसलमानों के लिए। इन्सानों के लिये कोई भी नहीं था।

"उस रात मैं एक कोठी के सामने बेहोश होकर गिर पड़ा। कोठी किसी सरदार जी की थी। वह मुझे दुखी देखकर उठा लाए। मुझे दूध पीने को दिया। जब होश आया तो उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान या सिक्ख। सिर्फ़ यह पूछा—क्यों भाई, अच्छे तो हो?'

"मैं कई दिन वहाँ रहा। सरदार जी, उनकी बीवी और बच्चे सब मुझसे बहुत अच्छी तरह पेश आते थे। मैंने उन्हे बता दिया कि मेरी याद जाती रही है और मुझे पता नहीं कि मैं कौन हूँ। फिर भी उन्होंने मेरे साथ अच्छा ही बरताव किया। फिर कुछ दिन बाद उनके कितने ही सम्बन्धी रावलपिंडी जिले से आ गए, उन बेचारों पर वहाँ के मुसलमानों ने बड़ा जुल्म किया था। उन्होंने अपने दोस्तों, पड़ोसियों और अपने खास सम्बन्धियों को अपनी आँखों के सामने क़त्ल होते देखा था। उन सब के दिल मुसलमानों के खिलाफ़ नफ़रत और गुस्से से भरे थे। उनकी ज़बान से रावलपिंडी के वाक़ेआत सुनकर खुद मेरा दिल मुसलमानों से नफ़रत करने लगा। सरदार जी ने उन लोगों को मेरे बारे में बता दिया था कि मैं भी मुसीबत का मारा हूँ, जिसकी याद जाती रही है। उनमें से कई बड़े बूढ़ों ने मुझसे हमदर्दी जताई, लेकिन चन्द नौजवान मुझे शक की नज़रों से देखते रहे और एक रात मैंने उनमें से एक को कहते सुना—'क्या मालूम यह आदमी बन ही रहा हो। और अगर याद जाने की बात सच्ची भी है तो कौन कह सकता

है कि शायद यह मुसलमान ही हो। मैंने उनकी आँखों में बदले की खूनी चमक देखी और मैंने सोचा शायद मैं सचमुच मुसलमान ही हूँ। शायद जख्मी होने से पहले मैंने भी वह सारे जुल्म किये हों जो इन बेचारों पर हुए हैं। शायद मैं इसी काबिल हूँ कि मुझसे बदला लिया जाय···उसी रात मैं वहां से भाग गया।

"फिर कई दिन के फ़ाक़े, सड़कों की ख़ाक, यह कैम्प हिन्दुओं के लिए है, यह कैम्प मुसलमानों के लिए है, तुम्हारा नाम क्या है··· तुम्हारा धर्म क्या है, कहाँ से आए हो?

"जब कहीं पनाह न मिली और कमज़ोरी के मारे चलना मुश्किल हो गया तो मैं जामे मसजिद की सीढ़ियों पर लेट गया। सामने मैदान में हज़ारों मुसलमान पड़े हुए थे जो पूर्वी पंजाब से भागकर आए थे। दिन-भर पड़े रहने के बाद मुझे होश भी न रहा। न जाने कब तक यों ही पड़ा रहा। एक बार होश आया तो ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई मेरे पास ही खड़ा हो। आँख उठाकर देखा तो एक बच्चा था। मुश्किल से आठ बरस का होगा। कहने लगा—'लो यह खा लो। अम्माँ ने भेजा है कि किसी भूखे को खिला आओ।' बिना सहारे के मेरे से उठना भी मुश्किल था। उस बेचारे ने हाथ का सहारा दिया तो मैं उठकर बैठ गया। उफ़, कितनी मज़ेदार थीं वे रोटियाँ और वह दाल। खाना खाकर मैंने बच्चे से कहा—'जीते रहो बेटा।' और मुहब्बत से उसके नन्हें हाथ को छुआ तो वह बोला—'अरे तुम्हें तो बुखार है, चलो मेरे अब्बा के पास चलो। वह हकीम हैं, तुम्हें दवा देंगे, तुम फौरन अच्छे हो जाओगे···'

"हाँ, तो वह मुझे अपने घर ले आया। हकीम जी बेचारे बड़े भले आदमी थे। पाँच वक्त नमाज पढ़ते और कितने ही आदमियों का हर रोज मुफ्त इलाज करते। दवा अपने पास से बिना दाम देते। उन्होंने दो ही दिन में मेरा बुख़ार उतार दिया। पर मेरी खोई हुई याद वह भी वापस न ला सके। मैंने उन्हें अपना पूरा हाल बता दिया था।

मैंने एक दिन उनसे कहा—'हकीम जी, हो सकता है कि मैं असल में हिन्दू ही होऊँ। आप कहें तो आप के घर से मैं कहीं चला जाऊँ।' वह बोले—'हिन्दू है तो क्या हुआ, खुदा का बन्दा तो है....'

"और फिर एक दिन हकीम जी का लड़का किसी और भूखे व लाचार को जामे मसजिद खाना खिलाने गया तो शाम तक वापस न आया। रात को पता चला कि वापसी में दरीबे से आ रहा था कि उसे हिन्दुओं ने क़त्ल कर डाला। घर में कोहराम मच गया। हकीम जी की बीवी को ग़श पर ग़श आने लगे। अब मेरे लिए उस घर में रहना भी मुश्किल हो गया। हर वक्त मुझे यही ख़याल खाए जाता कि कौन जाने शायद मैं हिन्दू ही होऊँ। शायद मैंने भी हकीम जी के बच्चे की तरह और मुसलमानों के बच्चों को क़त्ल किया हो। आख़िर मैं वहां से भी भाग निकला।

"अब देहली में चारों तरफ़ क़त्लेआम हो रहा था, गोलियों की बारिश हो रही थी। बचता बचाता स्टेशन पहुँचा। सुना था बम्बई में थोड़ी-बहुत शांति है। बम्बई की ट्रेन में बैठ गया। बराबर में एक हिन्दू नौजवान बैठा था। गाड़ी चली तो वह बोला—'तुम कौन हो भाई?' मैंने कहा—'मुझे याद नहीं मैं कौन हूं, शायद हिन्दू हूं, शायद मुसलमान हूं।' उसने कहा—'सुना है रास्ते में मुसलमान मुसाफिरों पर बहुत जुल्म किया गया, तुम्हारे चेहरे पर दाढ़ी है इसलिए पूछता हूँ।' मैंने अपना पूरा हाल बता दिया, पर उसके चेहरे से मालूम होता था कि उसे यकीन नहीं आया और वह मेरी बढ़ी हुई दाढ़ी को शक की नज़र से देखता रहा। फिर उसने बताया कि लाहौर में उसकी बहुत बड़ी दुकान थी, जो सारी-की-सारी लुट गई। कितने ही सगे-सम्बन्धी मारे गये, कितने ही लापता थे। अब वह रिलीफ कमेटी से थर्ड क्लास का किराया लेकर बम्बई में क़िस्मत आज़माने जा रहा है। हाँ, तो भरतपुर में लाइन के पास पत्थर रखकर गाड़ी रोक ली गई। डिब्बे से मुसलमान मुसाफिरों को घसीट-घसीट कर निकाला

गया। हमारे डिब्बे में भी हत्यारे घुस आए, लेकिन मेरे नौजवान साथी ने मुझे चादर से ढॉप दिया, जब उन्होंने पूछा कि यह कौन है, तो उसने कह दिया कि यह तो मेरा भाई है। बेचारा पहले ही लाहौर में जख़्मी हो चुका है। वह चले गये। गोलियां चलने की आवाज आई, फिर कुछ चीखने-चिल्लाने की आवाज़ें हुईं और फिर ट्रेन रवाना हुई। मैं बम्बई पहुंच गया लेकिन यहां भी इस मनहूस सवाल ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा कि मैं हिन्दू हूं या मुसलमान। मैं सोचता—हिन्दू कौन है? मुसलमान कौन है? सिक्ख कौन है? हिन्दू वह नौजवान है जिसने एक दाढ़ी वाले की जान बचाई, जिसको वह मुसलमान समझता था, या वह दरांते वाले जिन्होंने हकीमजी के मासूम बच्चे को क़त्ल कर डाला? मुसलमान हकीमजी हैं, या वे सब जिन्होंने रावलपिंडी में सरदारजी के रिश्तेदारोंको क़त्ल किया और उनकी औरतों को बेइज़्ज़त कर डाला? सिक्ख सरदारजी हैं या वह शूरमा जिन्होंने अमृतसर में सैकड़ों मुसलमानों को घरों में भून डाला? फिर भी वही सवाल—हिन्दू हो? मुसलमान हो?

'एक सवाल—'तुम कौन हो?···तुम हिन्दू हो?···तुम मुसलमान हो···?'

"यह सवाल मेरे दिमाग में हर वक़्त गूँजता रहता—मैं कौन हूं? मैं कौन हूँ? हिन्दू हूँ? मुसलमान हूँ? सिक्ख हूँ? मैं कौन हूं? चलते फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते यह सवाल मेरा पीछा करता। ख़्वाब में मुझे दहकते हुए अंगारों-जैसी आँखों वाले प्रेत घेर लेते और आग में तपे हुए भाले मार-मारकर पूछते—'तू कौन है? बोल तू हिन्दू है या मुसलमान?' और मैं नींद में चिल्ला उठता—'मुझे नहीं मालूम मैं कौन हूं, मुझे छोड़ दो, मैं कुछ नहीं हूँ। मैं सिर्फ एक इन्सान हूं।'

"बम्बई में पंजाब से आये हुए लोगों के लिए बड़े-बड़े कैम्प खुले थे। सिक्ख हो तो खालसा कालेज जाओ, हिन्दू हो तो राम-कृष्ण आश्रम में शरण लो, मुसलमान हो तो भिंडी बाजार में मुस्लिम लीग

के दफ़्तर का रुख करो। पर मैं कहां जाऊँ? मैं हर जगह से दुतकार दिया गया था। मैं, जिसको नहीं मालूम कि मैं कौन हूं?

"भीख के टुकड़े भी मिलने बन्द होगए, 'हिन्दू हो या मुसलमान', हर एक भीख देने से पहले पूछता था कि तुम कौन हो? मैं भूखा मरने लगा और फिर एकदम से यह सवाल मेरे दिमाग पर छा गया कि मैं कौन हूं? मैं कौन हूं, हिन्दू या मुसलमान? मुसलमान या हिन्दू? जब तक कि इस सवाल का जवाब न मिले जीना नामुमकिन था।

"एक भले आदमी ने कहा कि 'डाक्टर समानी के पास जाओ, वही तुम्हारी याद वापस ला सकता है। डाक्टर समानी का नाम तो तुमने सुना होगा। वह दिमागी रोगों के इलाज का माहिर है। वह चीर-फाड़ से नहीं, बातों से दिमागी खराबियों का इलाज करता है।'

"मुझे एक शानदार कमरे में एक नर्म कोच पर लिटा दिया गया। ऊपर बड़े पावर का बल्ब जल रहा था। चारों तरफ की हरएक चीज सफेद। दीवारें आलमारियां, डाक्टर का कोट, नर्स की वर्दी···

"डाक्टर ने नर्मी से कहा—'आँखें बन्द करलो, दिमाग पर जोर न डालो, ढीला छोड़ दो। फिर जो कुछ भी तुम्हें याद आए वह बोलते रहो। चाहे कितना ही बेमानी और बेकार ख्याल क्यों न हो।' यह कहकर वह कागज पेन्सिल लेकर पास ही बैठ गया। मैंने आँखें बन्द कर लीं···

"मैंने कहना शुरू किया—'हरे-भरे लहलहाते खेत···दूर तक फैले हुए···नीला आसमान···'—'शाबाश!' डाक्टर बोला और कागज पर पेन्सिल चलने की आवाज आई। 'बोलते रहो' और मैं बोलता गया—'नीला आसमान···एक नदी···बरसात में पानी चढ़ा हुआ··· नदी में किश्तियाँ···एक नहर···नहर में नहाते हुए बच्चे ··उन बच्चों में मैं भी।' शाबाश! शाबाश!' डाक्टर की आवाज जैसे बहुत दूर से आई।

"खेत में फ़सल कटी हुई···सुनहरे गेहूँ का एक ढेर·····बहुत

बड़ा ढेर। आसमान तक···बैसाखी का मेला·······दूर कोई बांसुरी बजा रहा है···ढोलक की आवाज़ करीब होती जा रही है···नीम के तले औरतें बैठी गा रही हैं''···'शाबाश' डाक्टर बोला—'कौन सा गीत गा रही हैं ?'

''मैंने उसे बताया—'ओंजदों माही याद आवे हाय हाये चुन दे हंजू डल डल पेंदे ने।'

''यह गीत हिन्दू औरतें गाती हैं या मुसलमान औरतें ?' डाक्टर ने पूछा। मैंने कहा—'पंजाबी औरतें गाती हैं। देखो वे सब मिल कर अन्तरा उठा रही है ?' 'यह औरतें कौन हैं, हिन्दू या मुसलमान ?' 'पंजाबी हिन्दू भी मुसलमान भी।'

''डाक्टर की भारी साँस की आवाज़ आई। जैसे इस जवाब से उसका बना बनाया काम बिगड़ गया। फिर वह बोला—'शाबाश, बोले जाओ, जो कुछ भी याद आए।'

''एक बहुत बड़ा बाग़······मेला सा लगा हुआ······रंगीन शलवारें और कमीज़ें······दुपट्टे हवा में लहराते हुए······चंचल लड़कियों के ठहाके·······बच्चों का शोर·······

'' 'शाबाश, शाबाश, बोले जाओ······चुप क्यों हो गए ?'

''अब कुछ सुनाई नहीं देता, कुछ दिखाई नहीं देता।

'' 'क्यों क्या हुआ ?'

''मेरे सर में दर्द हो रहा है। हर तरफ़ अंधेरा छाया हुआ है। एक अजीब सा शोर······

'' 'शाबाश ! शाबाश !'

''आग लग रही है। हर तरफ़ शोले-ही-शोले······शोर बढ़ता जा रहा है।

'' 'शाबाश !' यह फ़सादियों का शोर है। ये वही लोग हैं, जिनके ज़ुल्म ने तुम्हारे घर-बार को तबाह कर डाला। तुम्हारे रिश्तेदारों का ख़ून कर डाला। तुम्हारे दिमाग़ को बिगाड़ दिया। सुनो, गौर से

सुनो। ये क्या कह रहे हैं ?''

''कुछ सुनाई नहीं देता। शोर बहुत है। बस एक लफ़्ज़ समझ में आता है—मारो ! मारो !! मारो !!!......मुझे बचाओ डाक्टर साहब !

'' 'घबराओ नहीं फिर ग़ौर से सुनो। ये लोग जो आग लगा रहे हैं, शोर मचा रहे हैं ये हिन्दू हैं या मुसलमान ? अभी पता लग जाता है कि तुम कौन हो।'

''और मेरे दिमाग़ में जैसे ख़तरे की घण्टी बजी। अभी मालूम हो जायगा मैं कौन हूँ। अभी मालूम हो जायगा मैं कौन हूँ—मैं मुसलमान हूँ। मैंने सरदार जी के घर वालों का, हज़ारों बेगुनाह सिक्खों का खून किया है......

''मैं हिन्दू हूँ......मैंने हकीम जी के बच्चे और सैकड़ों मासूम मुसलमान बच्चों को क़त्ल किया है।

''नहीं ! नहीं !! मैं चिल्लाया—'मैं नहीं मालूम करना चाहता कि मैं कौन हूँ। मैंने आँखें खोल दीं। डाक्टर की नर्म आवाज़ के जादू को तोड़ डाला। मैं कोच से उठ खड़ा हुआ। मैं डाक्टर को हैरान और परेशान छोड़कर चला आया।

''मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ। मैं मुसलमान हूँ, मैं हिन्दू हूँ। मैं क्या हूँ ? कुछ भी नहीं हूँ। मैं मुसलमान हूँ, मैं हिन्दू हूँ।

''रास्ते-भर मेरे कानों में यही आवाज़ें आती रहीं।

''न जाने मैं किस रास्ते किस इलाके से होकर चला जा रहा था कि किसी ने टोका—'ए किधर जाता है ? कौन है तू ?' वह एक मुसलमान मवाली था। उसकी आँखों में खून, उसके हाथ में एक छुरा था। मैंने उसका सवाल सुना, मगर समझा नहीं। उसकी तरफ़ एक नज़र देखकर फिर अपने रास्ते चल पड़ा। मैं उसी तरह बड़बड़ाए जा रहा था—'मैं हिन्दू हूँ, मैं......

''अभी मैं 'मैं मुसलमान हूँ' न कह पाया था कि उसका छुरा मेरी

कमर में धँस गया। यही घाव जो आप देख रहे हैं, 'काफ़िर का बच्चा' में चकराया, मगर गिरते-गिरते सँभल गया। चलता ही रहा। अगरचे मेरे पीछे खून की एक गहरी लकीर सड़क पर पड़ती जा रही थी, तुम्हें यकीन नहीं आता ? मैं मर रहा हूँ, मुझे तुमसे सच्चाई का सर्टिफिकेट नहीं चाहिए……

"हाँ तो गिरता-पड़ता किसी और सड़क पर निकल गया। इस बार एक हिन्दू गुण्डे ने मुझे रोका। 'ऐ, कौन है तू ?'

"मैं मुसलमान हूँ, मैं……' और अभी 'हिन्दू हूँ' न कह पाया था कि उसकी तेज़ धार वाली खोखरी ने मेरा पेट फाड़ दिया……

"तो इस तरह यह दोनों घाव खाए हैं मैंने। मुझे हिन्दू-मुसलमान दोनों ने मारा है, तभी तो कहता हूँ डाक्टर साहब कि तुम मुझे नहीं बचा सकते। और न तुम सब बचा सकते हो जो मेरे मरने की राह देख रहे हो। और सच्ची बात यह है कि तुम लोग मुझे बचाना चाहते ही नहीं। अगर मैं मरते-मरते यह कह दूँ कि मैं हिन्दू हूँ तो यह हिन्दू वीर फ़ौरन मेरे बदले चार मुसलमानों को क़त्ल करने का बीड़ा उठा लेंगे और अगर मैं कहूँ कि मुसलमान हूँ तो यह बहादुर मुसलमान पूरी हिन्दू क़ौम से मेरा बदला लेने को तैयार हो जायँगे। और मैं हँस रहा हूँ, क्योंकि मुझे याद आ गया है कि मैं कौन हूँ। अपनी घरवाली की आँखें, अपने बच्चे की बातें, अपना खेत, अपना घर-बार, जो जल चुका है, मुझे सब याद आ गया है। अब जब मैं मर रहा हूँ……तुम सब बेकार इन्तजार कर रहे हो। मेरी ज़बान से हरगिज़ न निकलेगा कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान, न मेरे हिन्दू क़ातिल को मालुम होगा न मुसलमान क़ातिल को कि उनमें से किसने ग़लती से अपनी ही कौम के आदमी को मार डाला। उनसे मैं यही बदला ले रहा हूँ। उनसे ही नहीं, उन जैसे हज़ारों हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों से जिन्होंने मेरे देश पंजाब को मटियामेट कर डाला। मेरी बूढ़ी भारतमाता के सफ़ेद बालों में खून की मेंहदी मल दी। मैं हिन्दू था या मुसलमान ?

मुसलमान था या हिन्दू ? यह सवाल एक भूत बनकर उनके दिमागों पर मँडलाता रहेगा। यह सवाल उनके दिन का आराम और रातों की नींद उड़ा देगा। यह सवाल उनको उनकी सन्तान को और उनकी सन्तान की सन्तानों को कभी चैन से न बैठने देगा। मेरा बदला बहुत भयानक होगा·········जाओ भाई जाओ, अपना काम करो। मेरे मरने की राह कब तक देखोगे। मैं तो देर का मर चुका हूँ। यकीन नहीं होता तो सामने वाले डाक्टर को बुलाकर मुआइना करा लो। अब तो मेरी लाश भी ठंडी हो चुकी है। यह और बात है कि मैं कभी नहीं मरूँगा।

"अब भी जानना चाहते हो कि मैं क्यों हँस रहा हूँ ?"

डैड लैटर

"डार्लिङ्ग ?"

"जी ?"

"प्रसादज़ ने आज शाम को ब्रिज और खाने के लिए बुलाया है। याद है ना ?"

"जी।"

"तो मैं ऑफ़िस से साढ़े पाँच तक आ जाऊँगा। तुम तैयार रहना।"

"जी।"

जी ! जी !! जी !!! बारह वर्ष से वह यह एक अक्षरी शब्द अपनी पत्नी की ज़बान से सुन रहा था। दस बातों में से नौ का जवाब वह केवल "जी" से देती थी, जैसे पढ़ाया हुआ तोता केवल एक शब्द बोल सकता हो। जी ! जी !! जी !!

सुधीर सक्सेना, आई० सी० एस०, डिप्टी कमिश्नर, ज़िला नारायणगंज, के बारे में हर एक की राय थी कि दुनिया में उससे बढ़कर सौभाग्यशाली कोई न होगा। ऊँचा ओहदा, अच्छा वेतन, रहने के लिए आरामदेह मकान, विमला-जैसी व्यवस्था-पसन्द और पढ़ी-लिखी पत्नी जो कमिश्नर साहब के साथ ब्रिज खेल सकती थी, राजा साहब रामनगर के साथ डान्स कर सकती थी, तीन सुन्दर और चतुर बच्चों की माँ थी। सबसे बड़ा रणधीर, जो दस वर्ष की उम्र ही में नैनीताल के एक अंग्रेज़ी स्कूल में जूनियर केम्ब्रिज में पढ़ रहा था और अपनी क्लास की क्रिकेट-

टीम का कप्तान था और बिलकुल एंग्लो-इंडियन लड़कों की तरह अंग्रेज़ी में बातचीत कर सकता था। उससे छोटी सात-वर्षीया ऊषा, जो माँ की तरह ही दुबली-पतली नाज़ुक-बदन थी और वैसी ही बड़ी-बड़ी आँखें थीं और वैसे ही सुनहरे बाल थे; वह नारायणगंज ही के एक कान्वेंएट स्कूल में थर्ड स्टैंडर्ड में पढ़ रही थी और उसे सारे नर्सरी-राइम्स ज़बानी याद थे और "ट्विंकल ट्विंकल लिट्ल स्टार" जैसी कविताएँ तो वह फ़र्राटे से गाकर सुना सकती थी और फिर सबसे छोटी शान्ति, जो अभी मुश्किल से तीन वर्ष की थी और "बेबी" कहलाती थी और माता-पिता दोनों की आँख का तारा थी; और बड़े प्यारे अन्दाज़ से तुतला-तुतला कर "डेडी टाटा" या "ममी बाई-बाई" कहना सीख रही थी।

हाँ, तो सभी सुधीर सक्सेना आई० सी० एस० को सबसे सौभाग्य-शाली समझते थे। और कभी-कभी वह खुद भी यही समझता था। जो-कुछ उसे हासिल था उससे अधिक जीवन में कोई किस चीज़ की आशा कर सकता है? मगर फिर वह अपनी पत्नी की ज़बान से यह एक-अक्षरी शब्द "जी" सुनता—विमला के फीके, बेरंग, थके हुए अन्दाज़ में—और उसकी खुशी और खुश-क़िस्मती दोनों पर सन्देह और एक हद तक निराशा के बादल छा जाते।

"जी"

कब से यह शब्द उसके जीवन में गूँज रहा था!

बारह वर्ष हुए, वे पहली बार मसूरी में मिले थे। सुधीर एक महीना हुआ, इंग्लिस्तान से आया था और नियुक्त होने से पहले कुछ सप्ताह छुट्टी मनाने आया हुआ था। मसूरी खाते-पीते घरानों की सुन्दर सुसज्जित और दिलचस्प लड़कियों से भरा हुआ था। लाइब्रेरी के सामने हर शाम को लहराती हुई रंगीन साड़ियों, चुस्त कमीज़ों, रेशमी सलवारों, और गले में झूलते हुए दुपट्टों की नुमाइश होती थी। ऊँची एड़ी के जूतों पर इठलाती हुई चाल, निडर निगाहें, शोख़ जवानियाँ, बाँकी चितवनें, रंगे हुए होंट, बारीक की हुई भवें, पाउडर से दमकते

हुए गाल, पर्म किए हुए बाल। हर नौजवान को दृश्य देखने की खुली दावत थी। मगर न जाने क्यों सुधीर को सारे मसूरी में सूरत पसन्द आई तो सिर्फ एक—विमला—जिससे पहली बार उसकी भेंट "हेकमैन" होटल में एक शाम को "टी-डांस" के दौरान में हुई थी।

"हलो सुधीर" उसके पटना के मित्र माथुर ने उसे हाथ से इशारा करके अपनी मेज़ की तरफ़ बुलाते हुए कहा था।, "यहाँ आओ, यार और इनसे मिलो। आप हैं विमला बैनर्जी। हैं बंगाली, मगर लखनऊ में पली हैं। वहीं कालिज में पढ़ती हैं।"

सुधीर ने देखा कि बग़ैर पाउडर के गोरे-गोरे चेहरे पर दो बड़ी-बड़ी आँखें हैं जिनकी गहराई में कोई दुःख डूबा हुआ है और उनके गिर्द काले गड्ढे हैं और लम्बी नुकीली शर्मीली पलकें हैं, जो रातों को जागे हुए पपोटों के बोझ से झुकी जा रही हैं।

वह माथुर के अनुरोध की प्रतीक्षा किए बिना ही विमला के पास की कुरसी पर बैठ गया और फिर उसके लिए उस खचाखच भरे हुए बाल-रूम में विमला के सिवा और कोई न था।

बारह बरस के बाद भी उनकी वह सबसे पहली बातचीत आज तक उसकी याद में ताज़ा थी।

"तो आप आई० डी० कालिज में पढ़ती होंगी?"

"जी।"

"बी० ए० में?"

"जी।"

"अगले साल फ़ाइनल की परीक्षा देंगी?"

"जी।"

दो वर्ष तक अँग्रेज़ स्त्रियों का कर्कश मर्दाना स्वर सुनने और दो सप्ताह मसूरी की चीख़-पुकार में गुज़रने के बाद कितनी शान्ति थी विमला के कम बोलने में? जैसे आँधी और तूफ़ान और कड़क-चमक के बाद वर्षा थम गई हो और गुलाब की पंखड़ियों पर से कुछ नन्हीं-नन्हीं

बूँदें घास पर टपक रही हों। कितनी भारतीयता थी उस "जी" में। कितनी कोमलता और मिठास, कितनी पवित्रता और लाज!

"आप डांस करती हैं?"

"जी नहीं।"

उनके मित्र नाचने वालों की भीड़ में खो गए थे, और अब वे दोनों अपनी मेज़ पर अकेले थे। सुधीर ने सोचा, अन्त में मेरी तलाश आज समाप्त हो गई। विमला से अच्छी पत्नी मुझे नहीं मिल सकती। वह सुन्दर है, मगर शुक्र है शोख़ तितली नहीं जो एक फूल से दूसरे फूल पर भटकती फिरे। पढ़ी-लिखी है, मगर अपनी राय की पक्की और ज़बान की तेज़ नहीं है। खाते-पीते घराने की मालूम होती है, मगर इतनी अमीर भी नहीं है कि एक आई० सी० एस० के प्रस्ताव को ठुकरा दे। उससे शादी करके इन्सान सचमुच सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है।

और उसने कहा, "तो आपके पिता....?"

"वह लखनऊ में रहते हैं। आर्ट स्कूल में पढ़ाते हैं।"

"ओह, आप आर्टिस्ट बैनर्जी की बेटी हैं। उनके चित्रों की प्रदर्शनी तो हमारे पटना में भी हो चुकी है।" और फिर उसने सफ़ाई से झूठ बोला—"मुझे उनकी तस्वीरें बहुत पसन्द आई थीं।" यद्यपि उस समय उसने सोचा था कि न जाने इन टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों, नीले-पीले रंग के धब्बों में क्या धरा है जो लोग उनकी इतनी प्रशंसा करते हैं। मगर इसी क्षण उसे उन चित्रों में से एक विशेष चित्र याद आया। एक ग्यारह-वर्षीया चंचल-चपल बच्ची का चित्र जो साबुन घुले हुए पानी के रंगीन बुलबुले बनाकर उड़ा रही थी। चित्र का नाम था—"बुलबुले"

"वह चित्र "बुलबुले" आपका ही था न?"

"जी।"

"उसमें आप बहुत चंचल मालूम होती थीं। अब तो आप कितनी सीरियस हो गई हैं।"

सिर्फ़ इस बार उसने "जी" कहकर जवाब नहीं दिया। एक अजीब-सी, थकी हुई, बुझी हुई-सी मुस्कराहट के साथ बोली—"बुलबुले की ज़िन्दगी भी कितनी होती है। हवा का एक हलका-सा झोंका भी आया और बुलबुला टूट गया। बस–ख़त्म—"

जब तक वह मसूरी में रहा, उसका अधिकतर समय विमला की सोहबत में गुज़रा। इकट्ठे वे चंडाल चोटी तक चढ़े, कैम्प्टी फ़ाल देखने गए।

इन तमाम दिनों में विमला ने मुश्किल से एक दर्जन वाक्य उससे कहे होंगे। सुधीर की बातों को वह बड़ी ख़ामोशी और एकाग्रता से सुनती। जब तक वह सीधा सवाल न करता, वह किसी बात पर भी अपनी राय न देती। मगर सुधीर को विमला के कम बोलने से कोई शिकायत न थी। बातूनी लड़कियाँ जो संसार के हर सवाल पर राय रखती हैं और उसको व्यक्त करना आवश्यक समझती है, उसे बिलकुल पसन्द न थीं। उसे तो यही अच्छा लगता था कि वह बोलता जाय और विमला बैठी सुनती रहे और "जी-जी" करती रहे। जब सुधीर को विश्वास हो गया कि वह विमला को बहुत पसन्द करने लगा है बल्कि शायद उससे प्रेम भी करने लगा है, तो एक दिन एकान्त में अवसर पाकर उसने "प्रोपोज़" कर ही डाला।

"विमला, तुम्हें मालूम है न कि मैं तुम्हें पसन्द करने लगा हूँ?"

"जी।"

"तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता। क्या तुम मुझसे शादी करोगी?"

"जी।" इस "जी" में सवाल भी था, और जवाब भी।

थोड़ी देर की ख़ामोशी के बाद वह बोली—"देखिए, मैं आपका बहुत आदर करती हूँ। इसीलिए मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मैं आपसे प्रेम नहीं करती।"

"क्या तुम किसी और से प्रेम करती हो?"

विमला की ज़बान से "जी नहीं" भी कभी ही निकलता था। मगर

इस बार उसने कहा, "जी नहीं।" और फिर एक क्षण ही ख़ामोशी के बाद, जिसमें गहरी ठंडी साँस का समावेश था—"ऐसा कोई नहीं है।"

सुधीर को विश्वास हो गया। उसने कहा, "तो फिर कोई हर्ज नहीं। मैं तुम्हें प्रेम करना सिखा दूँगा।"

उस दिन जुलाई १६४० की १४ तारीख़ थी।

नौकर ने डाक का पुलिन्दा लाकर सुधीर के सामने रक्खा। सबसे पहली ही चिट्ठी जो उसने खोलने के लिए उठाई तो उसकी नज़र डाकखाने की मुहर पर पड़ी—"नारायणगंज—१४, जुलाई, १६५२।" एक क्षण में सुधीर की याद में बारह बरस पहले का वह दिन चौंक कर ज़िन्दा हो गया।

लिफ़ाफ़े को छुरी से खोलते हुए सुधीर ने विमला से पूछा, "जानती हो, आज क्या तारीख़ है?"

"जी!" और उसकी दृष्टि सामने की दीवार पर लगे हुए कैलेंडर पर गई।

"बारह वर्ष पहले का वह दिन याद है मसूरी में—जब मैंने तुम्हें "प्रोपोज़" किया था?

"जी" मगर इस "जी" में केवल स्वीकृति थी, प्रफुल्लता नहीं थी। सुधीर बारह वर्ष पहले की जिस राख को कुरेदना चाहता था, वह बिलकुल ठंडी थी। ऐसा लगता था कि उसमें कभी भी कोई चिनगारी न थी।

मगर सुधीर ने विमला के चेहरे पर एक रंग जाते और दूसरा आते नहीं देखा। वह पत्र खोलकर पढ़ रहा था जो उसके कॉलेज के पुराने और बेतक़ल्लुफ़ दोस्त माथुर के पास से आया था, जो अब पटना में वकालत करता था। पत्र पर नज़र डालते ही सुधीर मुस्करा दिया। क्योंकि माथुर ने लिखा था—"यार, तुम कितने खुशकिस्मत हो।

विमला-जैसी पत्नी पाई है। भैया, हमें दुआएँ दो कि उस दिन "हैकमैन्स" में तुम्हारी भेंट उससे कराई। मगर इस दुनिया में कौन किसी का अहसान मानता है ?"

"सुना तुमने, माथुर ने क्या लिखा है ?"

"जी ?"

सुधीर ने विमला के विषय में जो वाक्य माथुर ने लिखे थे, वे पढ़कर सुनाए, और फिर दूसरे पत्रों को खोलकर पढ़ने में व्यस्त हो गया। और उसने यह नहीं देखा कि माथुर के दोस्ताना मज़ाक़ को सुनकर विमला की आँखों में कोई चमक पैदा नहीं हुई। केवल होंठों पर एक कड़वी-सी मुस्कराहट का तनाव पैदा हुआ और फिर एकाएक ग़ायब हो गया।

दूसरा पत्र जो सुधीर ने खोला, वह क्लब का बिल था। वह उसने विमला की तरफ़ बढ़ा दिया क्योंकि बिलों का भुगतान वही करती थी। तीसरा पत्र आई० सी० एस० एसोसिएशन से आया था, वार्षिकोत्सव और चुनाव के विषय में।

"सुना विमला, तुमने ? इस साल बलदेव और अहसान वग़ैरह सेक्रेटरी के लिए मेरा नाम "प्रोपोज़" करना चाहते हैं ?"

"जी ?"

चौथा पत्र—मगर यह उसके नाम नहीं, विमला के नाम था। एक मोटा मगर पीला पुराना-सा लिफ़ाफ़ा जिस पर कितनी ही मुहरें लगी हुई थीं और कई बार पते में कांट-छांट की हुई थी। और यह क्या ? मिस विमला बैनर्जी ! यह कौन बदतमीज़ है, जो मिसेज़ विमला सक्सेना को शादी के बारह वर्ष बाद भी "मिस" लिखता है ?....सुधीर ने एक नज़र विमला की ओर देखा जो उस समय नौकर को दोपहर के खाने के बारे में हिदायतें देने में व्यस्त थी। यह इतमीनान करने के बाद कि विमला ने अपना पत्र नहीं पहचाना था, सुधीर ने सामने चायदान रखकर लिफ़ाफ़ा खोला। शादी के बाद कई वर्ष तक उसने

विमला के नाम आए हुए कितने ही पत्र चुपके-चुपके खोलकर पढ़े थे। मगर सिवाय कालिज की सहेलियों या रिश्ते की बहनों वगैरह के कोई सन्देहात्मक पत्र न मिला था। मगर न जाने क्यों इस पत्र के लिफ़ाफ़े ही से मालूम होता था कि उसमें कोई पुराना भेद ज़रूर है। शायद आज उसे मालूम हो सके कि इस "जी" की उकताहट और बेदिली के पीछे कौन-सी चीज़ छिपी हुई है?

लिफ़ाफे में से कई पृष्ठों का लम्बा पत्र निकला। मगर उसकी पहली कुछ पंक्तियाँ ही सुधीर की शान्ति को सदा के लिए भंग करने के लिए पर्याप्त थीं। लिखा था :

> जान से ज़्यादा प्यारी विमला !
>
> तुमसे मिले दो महीने हो चुके हैं, और मेरे लिए ये दो महीने दो बरस से भी अधिक लम्बे हैं। क्या हम सदा इसी तरह छिप-छिपकर ही मिल सकेंगे? यह दीवार जो हमारे बीच खड़ी है—क्या यह कभी ढाई न जा सकेगी...?

क्रोध और घृणा के जोश से सुधीर के हाथ काँप रहे थे। इससे आगे उससे यह पत्र न पढ़ा गया—यह पत्र जो उसकी पत्नी की बदचलनी का घोषणापत्र था। जल्दी-जल्दी पृष्ठ उलटकर उसने अन्तिम पृष्ठ पर नज़र डाली। पत्र की समाप्ति पर लिखा था—"सदा-सदा के लिए तुम्हारा—अनिल।"

अनिल? उसके मस्तिष्क में यह अनजाना नाम एक बम के गोले की तरह फटा।

"विमला!" वह चिल्लाया। और विमला, जो उस समय कमरे के बाहर जाने वाली थी, ठिठककर दरवाज़े के पास रुक गई।

"जी?"

जी? जी?? जी??? वही मुलायम, ठंडा, फीका "जी"...और इस समय सुधीर को ऐसा लगा जैसे यह छोटा-सा शब्द एक ताना हो, एक गन्दी गाली हो। एक तमाचा हो जो उसकी पत्नी ने उसके मुँह

पर दे मारा हो—

"जी ?"

"अनिल कौन है ?"

सुधीर ने यह प्रश्न इतना अचानक किया कि कुछ क्षण तक विमला भौंचक्की खड़ी रही, जैसे समझी ही न हो कि उससे क्या पूछा गया है ? मगर फिर जैसे धीरे-धीरे सूर्य पर से बादल हट जाते हैं और बरसात की भीगी धूप ज़मीन पर फैल जाती है, इसी तरह एक धीमी मीठी नर्म मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेल गई ।

"अनिल ?" उसने नर्म आवाज़ में नाम दुहराया—जैसे माँ बच्चे का नाम लेती है, जैसे भक्त भगवान् का नाम लेता है, जैसे कवि अपनी प्यारी कविता गुनगुनाता है—और उसकी आँखें एक नये प्रकाश से चमक उठीं—वह प्रकाश जो बारह वर्ष तक सुधीर ने कभी अपनी पत्नी की आँखों में नहीं देखा था ।

"हाँ, हाँ, अनिल ? कौन है वह ?" विमला की आँखों में उस नये प्रकाश को देखकर, सुधीर आपे से बाहर हो रहा था ।

मगर विमला किसी दूसरी ही दुनिया में थी । उसकी आँखें दूर—बहुत दूर—न जाने क्या देख रहीं । कोई बहुत सुन्दर दृश्य ? कोई दिलकश याद ? आशा की कोई किरण ?

"वह सब कुछ है" उसके मुस्कराते होंठों ने सुधीर से नहीं बल्कि दुनिया से कहा । फिर उन होंठों की मुस्कराहट बुझ गई और उन पर एक कड़वा व्यंग्य उभर आया । "और अब वह कुछ नहीं है" फिर किसी अज्ञात दुख के बोझ से उसकी गरदन झुक गई ।

"पहेलियां मत बुझाओ ।" सुधीर चिल्लाया । उसका जी चाहता था कि मेज को उलट दे, उन तमाम चीनी के बरतनों को चकनाचूर कर दे, चायदानी को उठाकर विमला के सिर पर दे मारे । "सच-सच बताओ क्या तुम उससे प्रेम करती हो ?"

झुकी हुई गरदन फिर उठ गई । आँखों के डबडबाते आँसुओं में

से फिर वह प्रकाश झलकने लगा। फीके और बेरंग अंदाज में केवल "जी" कहने वाली विमला ने सगर्व सिर उठाकर सुधीर की आँखों में आँखें डाल दीं। बोली—"जी हाँ, आपका ख्याल ठीक है।"

और उस क्षण सुधीर की दुनिया एकाएक अंधेरी हो गई। उसे ऐसा लगा जैसे विमला ने उसकी इज़्ज़त पर, उसकी आई० सी० एस० की शान पर, उसकी पौरुषता पर सदा के लिए कालिख पोत दी हो। उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे विमला ने उसे ऐसी गन्दी गाली दी है जो उम्र-भर उसके कानों में गूंजती रहेगी। उस समय शिक्षा और संस्कृति और सभ्यता के सब छिलके उस पर से उतर गए। अब वह लन्दन का पढ़ा हुआ बैरिस्टर नहीं था, आई० सी० एस० एसोसिएशन का होने वाला सेक्रेटरी नहीं था, क्लब का लोकप्रिय सदस्य नहीं था नारायणगंज ज़िले का डिप्टी कमिश्नर नहीं था जिसकी मुट्ठी में एक लाख से ज्यादा इन्सानों की किस्मत थी। इस समय वह केवल एक नंगा वहशी था, गुस्से और जोश में आया हुआ, एक मर्द जिसकी औरत ने उसे धोखा दिया था।

वहशी चिल्लाया—"निकल जाओ इस घर से! इसी वक्त। इसी दम।"

विमला के चेहरे पर न क्रोध के चिन्ह पैदा हुए न दुःख के। वह अब भी किसी दूसरी ही दुनिया में थी। उसने सुधीर की चीख को ऐसे सुना जैसे बहुत दूर से कोई धीमी-सी आवाज़ आई हो। और एक बार फिर उसके होंठ एक मासूम-सी मुस्कराहट से खिल गए—जैसे भटके हुए यात्री को बड़ी तलाश के बाद रास्ता मिल जाय, जैसे वह देर से—बारह वर्ष से—इस घड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी और अंत में वह शुभ साइत आन पहुँची हो।

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल एक नज़र अपने पति की तरफ देखा। इस नज़र में शिकायत नहीं थी, दया थी, क्षमा थी। जैसे उसकी आँखें कह रही हों—"इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम इन

बातों को नहीं समझोगे।" वह फिर अपने बेड-रूम में गई और वहाँ से अपनी छोटी बच्ची को गोद में लेकर बरामदे में से होती हुई बाहर निकल गई। उसके कदमों की आवाज दूर होती गई—यहां तक कि बाहर सड़क के शोर में हमेशा के लिए खो गई।

सुधीर का विचार था कि वह रोएगी, गिड़गिड़ाएगी, अपने गुनाह की माफी मांगेगी। भविष्य में अपने चरित्र को ठीक रखने का वादा करेगी। लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं था कि विमला सचमुच घर छोड़कर चली जायगी। इस खामोश तमाचे से उसका सारा बदन झनझना उठा, हथौड़े की तरह उसके दिमाग पर एक ही चोट पड़ती रही। अनिल! अनिल!! अनिल!!! यह अनिल कौन है? मैं उसका पता लगाकर छोड़ूंगा। उस पर एक विवाहिता स्त्री को भगा ले जाने का दावा करूँगा, उसे जेल भिजवाऊँगा, उसे जान से मार दूँगा...

पागलों की तरह दौड़ता हुआ वह विमला के कमरे में पहुंचा। उसे मालूम था कि अपनी वारड्रोब के एक खाने में विमला अपने पत्र इत्यादि रखती है। चाबियों का गुच्छा सामने पलंग पर पड़ा था—जाते वह फेंक गई थी। सुधीर ने वारड्रोब खोली; खाने को चाबी लगाकर बाहर खींचा। उसमें रखे हुए पत्रों के पुलिन्दों और कागज़ों को टटोला। सबसे नीचे की तह में लाल रेशमी फीते से बँधे हुए कुछ पत्र रखे थे। जरूर ये अनिल के पत्र होंगे। उसका विचार ठीक निकला प्रत्येक पत्र में प्रेम का ऐलान—"विमला मेरी जान" "मेरी अपनी विमला" "मेरी अच्छी विमला" "तुम्हारा और सिर्फ तुम्हारा अनिल" "इस दुनिया में और अगली दुनिया में तुम्हारा...'तुम्हारा" हर वाक्य एक ज़हरीले नश्तर की तरह उसके दिल में कचोके लगाता रहा। एक-एक करके वे पत्र जमीन पर गिरते रहे, मगर यह क्या? पत्रों के बीच में तह किया हुआ अखबार का एक पन्ना। खोलने पर देखा कि एक नवयुवक का चित्र—गहरी चमकती हुई आँखें, ऊँचा माथा, मुस्कराते हुए होंठ—के नीचे यह समाचार छपा हुआ था:

नवयुवक कवि की मृत्यु

हमें यह सूचना देते हुए हार्दिक दुःख होता है कि लखनऊ के नवयुवक प्रगतिशील साहित्यकार और इन्कलाबी कवि अनिल कुमार 'अनिल' की मृत्यु हो गई है। सन् ३९ के सत्याग्रह में वह जेल गए थे और उन्हें वहीं तपेदिक की बीमारी हो गई थी।

सुधीर सारी खबर न पढ़ सका, इसलिए कि अखबार के टुकड़े पर तारीख दी हुई थी—१८, जून सन् १९४०।

उसके हाथ से बाक़ी पत्र और अखबार का टुकड़ा जमीन पर गिर पड़े। उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि बात क्या है। अनिल! अनिल !! अनिल !!! क्या कोई मरकर भी ज़िन्दा हो सकता है?

खोए हुए मुसाफिर, हारे हुए जुआरी की तरह वह खाने के कमरे में वापस आया। मेज पर अनिल का पत्र और लिफाफा पड़े हुए थे। उसने लिफाफा उठाकर एक बार फिर ध्यान से देखा। दर्जनों गोल मुहरों के बीच एक चौकोर मुहर लगी हुई थी जिस पर अंग्रेजी के तीन अक्षर छपे हुए थे : डी० एल० ओ०—डैड-लैटर-ऑफ़िस।

अनन्नास और एटम बम !

पात्र

राज—एक पढ़ा-लिखा नौजवान प्रगतिशील कवि

रजनी—सुन्दर नौजवान लड़की, जिससे राज प्रेम करता है

सेठ लक्ष्मीचन्द—रजनी का बाप, लखपति, पूँजीपति

मंगू—सेठ लक्ष्मीचन्द का नौकर

एक रेडियो

एक अनन्नास

एक एटम बम

[सेठ लक्ष्मीचन्द का ड्राईंग रूम। फरनीचर, सजावट का सामान वगैरह बढ़िया है, मगर भद्दा। हर चीज भोंडेपन का नमूना। दीवार पर लटकी हुई तसवीरों में हनुमान जी भी हैं, देवी लक्ष्मी भी, गाँधी जी भी, और और कोई पुराना वाइसराय भी। तिजोरी पर राष्ट्रीय झंडा पड़ा हुआ है और उस पर एक गाँधी टोपी ऐसे रखी है जैसे सिंहासन पर राजमुकुट धरा हो। एक कोने में रेडियो लगा हुआ है। इस कमरे के तीन दरवाज़े हैं—एक खाने के कमरे में खुलता है, दूसरा रसोई में, और तीसरा सदर दरवाजा बाहर के बरामदे में। जब पर्दा उठता है तो कमरा खाली है मगर रेडियो चल रहा है। गाने का कोई प्रोग्राम खत्म हो रहा है।]

रेड़ियो : अनाउन्सर—(आवाज) अभी-अभी आप मुन्नी बाई से ध्रुपद सुन रहे थे। अब आप महान् नेता परम-पूज्य देशदास जी का अनाज-

उगाओ-आन्दोलन के बारे में भाषण सुनेंगे।

[खाने के कमरे से सेठ लक्ष्मीचन्द की आवाज सुनाई देती है।]

लक्ष्मीचन्द—(आवाज) मंगू, अरे ओ मंगू ! कहाँ मर गया ! खाने को कुछ लाएगा या नहीं ?

[मंगू की आवाज रसोई की तरफ से आती है।]

मंगू—(आवाज) आया सेठ जी, अभी गर्म-गर्म पूरियाँ तलकर ला रहा हूँ।

[रेडियो पर लीडर की आवाज़ सुनाई दे रही है।]

लीडर—(आवाज) भाइयो और बहनो, आज देश की जो दुर्दशा हो रही है, वह आपसे छिपी नहीं है। कितने ही प्रान्तों में काल पड़ रहा है। लाखों भूखे मर रहे हैं। करोड़ों को पेट भरकर खाना नहीं मिलता। सरकार राशन कम करने पर मजबूर हो गई है। इस समय हमारा फर्ज़ क्या है ? जैसा कि अँग्रेजी भाषा के एक महान् विद्वान् ने कहा है : Tighten your beets····अपनी-अपनी पतलूनों को···मेरा मतलब है, अपनी धोतियों को कस लीजिए। खाना कम खाइए। हर तीसरे दिन व्रत रखिए। कच्ची तरकारियाँ खाइए। शकरकन्दी की रोटियाँ बनाकर खाइए। टेपियोका की खीर बनाकर खाइए। और कुछ नहीं तो टिड्डियाँ पकड़कर उनको भूनकर खाइए—मगर जहाँ तक हो, अनाज बचाइए, चपातियाँ न खाइए। और पूरियाँ ? पूरियों को हाथ मत लगाइए। कभी-कभार एक-आध पूरी मिल गई तो खा ली····

[हाँ, इस भाषण के बीच में मंगू एक थाली में बीस-पच्चीस नई तली हुई पूरियों का पहाड़ लेकर खाने के कमरे में जाता है। सदर दरवाजे से रजनी अन्दर आती है। रेडियो का भाषण सुनकर नाक-भौं चढ़ाती है। फिर रेडियो की सुई घुमाकर साज-संगीत का कोई प्रोग्राम लगा देती है और बड़े रूमानी अन्दाज में कुरसी पर बैठ जाता है। मंगू खाने के कमरे से खाली थाली लेकर वापिस होता है और रसोई की तरफ जाता है। संगीत सुनते-सुनते रजनी आँखें बन्द कर लेती है। सदर दरवाजे की तरफ से दबे

पैरों इधर-उधर देखता हुआ राज आता है; ज़ोर से सीटी बजाता है। रजनी चौंककर उठ बैठती है। राज को देखकर उसका चेहरा खुशी से खिल जाता है और वह दौड़ती हुई राज के पास जाती है। राज बाहें फैलाकर उसका स्वागत करता है।]

राज—रजनी !

रजनी—राज ! तुम आ गए ?

[वे एक-दूसरे के गले लगने ही वाले हैं कि खाने के कमरे से सेठ लक्ष्मीचन्द की गरजदार आवाज सुनाई देती है और वे दोनों घबराकर अलग-अलग हो जाते हैं।]

लक्ष्मीचन्द—(आवाज) मंगू ! अरे ओ मंगू ! और पूरियाँ कहाँ हैं ?

मंगू—(आवाज) कढ़ाई में हैं, सेठजी······

राज—कढ़ाई में हैं—सेठजी या पूरियाँ ?

रजनी—पूरियाँ रसोई में तली जा रही हैं। पिताजी खाने के कमरे में भोजन कर रहे हैं।

राज—तो कोई चिन्ता नहीं है। (फिर रजनी की तरफ बढ़ता है।)

राज—(रूमानी अन्दाज में) रजनी !

रजनी—हाँ, राज !

राज—आज मैं तुम्हारे पिताजी से साफ-साफ बात करने आया हूँ। अब तुम्हारे बिना एक दिन गुज़ारना मुश्किल हो गया है।

रजनी—(शर्माकर) राज, मेरा भी यही हाल है। जिस दिन तुमसे मुलाकात नहीं होती, सारा दिन फीका और बेमज़ा लगता है।

राज—(मजाक से) ऊँहुँ, तुम झूठ बोल रही हो।

रजनी—(गंभीर होकर रूमानी अन्दाज में) नहीं राज, मैं सच कह रही हूँ। तुम मेरे रोम-रोम में समा गए हो।

राज—यह तो फिल्मी डायलाग हुआ। अच्छा लाओ, तुम्हारा मुँह सूँघकर देखूँ। कहते हैं, झूठ बोलने वाले के मुँह से बदबू आने लगती है।

रजनी—(मुँह खोलकर) तो लो सूँघो...

[राज इसी बहाने रजनी को चूमना चाहता है, मगर उसी वक्त रसोई की तरफ से मंगू पूरियाँ लिए हुए आ जाता है और दोनों को इस हालत में देखकर खंखारने लगता है। राज और रजनी अलग-अलग हो जाते हैं। मंगू झूटमूट आँखों पर हाथ रखकर खाने के कमरे में चला जाता है। राज इतनी सी पूरियाँ देखकर हैरान रह जाता है।]

रजनी—तुम बहुत शरीर हो।

राज—मैं बहुत शरीफ हूँ, मगर क्या करूँ, तुम बहुत खूबसूरत हो।

रजनी—हटो, खुशामदी कहीं के !

राज—अच्छा, यह बताओ मेरे बारे में तुम्हारे पिताजी का क्या मूड है ?

रजनी—कुछ अच्छा नहीं है। तुम्हारी एटम बम वाली कविता पढ़कर बहुत बिगड़ रहे थे।

राज—वह सब मैं समझ लूँगा। मगर मुझे तो तुम्हारे पिताजी से अकेले में बात करनी है, हम दोनों के बारे में, समझी न ! और यहाँ इतने बहुत मेहमान बैठे हैं।

रजनी—मेहमान ? मेहमान कहाँ है ? पिताजी तो अकेले खाना खा रहे हैं।

राज—अकेले ? तो फिर ये इतनी सारी पूरियां—तुम्हारे-पिता-अकेले-खा-जायँगे ?

रजनी—हाँ, और क्या ? और यह पूरियाँ ही थोड़े ही—फिर दाल भात, मिठाई, दही-बड़े-पकौड़े, फल ...

[इतने में मंगू खाने के कमरे से वापस आ रहा है और रसोई में जाना चाहता है कि सेठजी की आवाज आती है। मंगू रुक जाता है और ड्राईंग रूम में से जवाब देता है।]

लक्ष्मीचन्द—(आवाज) अरे ओ मंगू ! दस-बारह पूरियाँ और

ले आ।

राज—(आश्चर्य से लगभग बेहोश होते हुए।) दस-बारह और पूरियाँ!

लक्ष्मीचन्द—(आवाज़) और हाँ—भागकर बाज़ार से एक अनन्नास भी ले आ। हाज़मे के लिए अच्छा होता है।

मंगू—(तंग आकर रजनी से) तुम्हीं बताओ, छोटी बीबी, रसोई में पूरियाँ तलूँ, कि खाना परोसूँ, कि बाज़ार से जाकर अनन्नास लाऊँ—घर भर में अकेला नौकर हूँ इस वक्त।

रजनी—और सब क्या हुए?

मंगू—(कानाफूसी करते हुए) छोटी बीबी, सेठजी से मत कहना। सब-के-सब सिनेमा देखने गए हैं, मैटनी शो में।

लक्ष्मीचन्द—(आवाज़) मंगू! अनन्नास ले आया है, तो थोड़ी पूरियाँ और तल ले।

मंगू—अब बताओ, छोटी बीबी, करूँ तो क्या करूँ?

रजनी—मंगू, तू जाकर पूरियाँ तल। मैं अनन्नास मँगवाती हूँ।

[मंगू रसोई की तरफ़ जाता है]

रजनी—राज, मुझे बड़ी ही बढ़िया तरकीब सूझी है।

राज—वह क्या?

रजनी—वह यह कि तुम भागकर नुक्कड़ वाली दूकान से एक अच्छा-सा अनन्नास खरीद लाओ। पिता जी को अनन्नास बहुत भाता है। तुम कहना, उनके लिए भेंट लाए हो। वह अनन्नास पाकर इतने खुश होंगे—कि—(शर्मा जाती है।)

राज—कि हमारी शादी की इजाज़त दे देंगे। सच?

[रजनी शर्माकर सिर हिलाकर हाँ करती है।]

राज—यह क्या मुश्किल काम है। मैं अभी एक इतना बड़ा और रस-भरा अनन्नास लाता हूँ कि सेठजी भी याद करेंगे।

[राज सदर दरवाजे की तरफ से बाहर जाता है। रजनी रेडियो के पास

जाकर बैठ जाती है। मंगू पूरियाँ लेकर खाने के कमरे में जाता है, फिर वापस चला जाता है। रास्ते में एक नजर रजनी पर डालता है, जो रेडियो के मधुर संगीत और अपने रूमानी विचारों में खोई हुई है। एकदम संगीत का प्रोग्राम रुककर रेडियो स्टेशन से एक ऐलान होता है।]

रेडियो अनाउन्सर—(आवाज़) तीसरे महायुद्ध की भयानक परछाईं सारी दुनिया पर पड़ रही है। कोई नहीं कह सकता, कब और कहाँ पहला एटम बम फट पड़े और एटमी लड़ाई शुरू हो जाय। लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अगर एक बार दुनिया के देशों ने एक दूसरे पर एटम बम बरसाने शुरू कर दिए, तो हज़ारों बरस की परवान चढ़ाई हुई संस्कृति, कला, प्रगति और साहित्य मिनटों में भस्म हो जायगा···यही नहीं, सारा संसार भस्म हो जायगा···और जिन्दगी खत्म हो जायगी···

[रजनी इस खबर से परेशान होकर रेडियो बन्द कर देती है और उठ खड़ी होती है। उसी वक्त लक्ष्मीचन्द अन्दर के दरवाजे से दाखिल होता है, तोंद पर हाथ फेरता हुआ।]

रजनी—(पिता को देखकर) पिताजी, ग़ज़ब हो गया।

लक्ष्मीचन्द—क्यों, क्या हुआ? जल्दी कहो।

रजनी—कहते हैं, शहर पर एटम बम गिरने वाले हैं।

लक्ष्मीचन्द—(हँसता हुआ) अरी पगली! तूने तो मुझे घबरा ही दिया था। मैं तो यह समझा कि सोने-चाँदी के भाव गिरने वाले हैं।

[आराम से सोफ़े पर बैठ जाता है।]

रजनी—मगर पिताजी, महायुद्ध शुरू हो गया तो सारे संसार का सत्यानाश हो जायगा।

लक्ष्मीचन्द—अरी मूर्ख! तुझे सारे संसार की क्या पड़ी है? एटम बम हमारे घर पर थोड़े ही गिरने वाले हैं। लड़ाई छिड़ गई, तो तेरे बाप का तो भला ही होने वाला है। फौजी ठेके मिलेंगे, बाज़ार में चीज़ों के भाव बढ़ेंगे। हम एक-एक के दस-दस बनायँगे—हे भगवान्! मैं प्रार्थना

करता हूँ कि कल की होती लड़ाई आज शुरू हो जाय। रजनी, मंगू को कह दो, अनन्नास काटकर ले आए, बर्फ में लगाकर।

रजनी—मंगू तो रसोई में है, खाना बना रहा है। मगर आप फिक्र न करें। अनन्नास अभी-अभी आए जाता है।

लक्ष्मीचन्द—मंगू अभी तक यहाँ है, तो अनन्नास लाने कौन गया है?

रजनी—(शर्माकर) राज···राज आया था। आप से कुछ बात करने। उसने सुना, आपको अनन्नास बहुत पसन्द है, इसलिए दौड़ा हुआ बाज़ार गया है आपके लिए अनन्नास लाने।

लक्ष्मीचन्द—कौन राज, वह फोकट कवि! जेब खाली, पर ज़बान जितनी चाहो चलवा लो। कविता लिखता है और वह भी एटम बम पर। वह क्या अनन्नास लाएगा।

रजनी—नहीं पिताजी, मुझे यकीन है वह बहुत ही अच्छा और मीठा अनन्नास लाएँगे।

लक्ष्मीचन्द—अरे, यह कालिज के बाग़ी छोकरे फल-फूल की पहचान क्या जानें? इनके दिमाग़ पर तो एटम बम सवार है। कहीं अनन्नास की बजाय एटम बम न उठा लाए।

रजनी—अच्छा, जब वह आएँगे तब देख लीजिएगा कि अनन्नास लाते हैं या एटम बम लाते हैं। अगर अच्छा और मीठा अनन्नास लाए तब तो आप उसे···(देखती है कि बाप पैर लम्बे करके ऊँघ गया) पिताजी! पिताजी!···

[कोई जवाब नहीं। अब लक्ष्मीचन्द खुर्राटे लेने लगता है।]

रजनी—अभी तो बात कर रहे थे, एक पल में सो भी गए।

[फिर वह दबे पाँव रेडियो के पास जाती है और उसका बटन दबाकर कोई संगीत का प्रोग्राम धीमी आवाज में चालू कर देती है। फिर वह चुपके से कमरे के बाहर आती है। उसके जाने के बाद खाने के कमरे वाले दरवाजे से मंगू आता है।]

मंगू—सेठजी ! अनन्नास तो···

[देखता है, लक्ष्मीचन्द सो रहा है। इसलिए बात पूरी किए बिना ही उल्टे पैरों वापस चला जाता है।

अब स्टेज की रोशनियाँ धीरे-धीरे धीमी होती जाती हैं और हम स्वप्न की दुनिया में पहुँच जाते हैं। रेडियो पर सितार-संगीत चलता है। चन्द सैकण्ड के बाद दरवाजे पर खटखट होती है। लक्ष्मीचन्द चौंककर उठ बैठता है।]

लक्ष्मीचन्द—कौन है ? आ जाओ अन्दर।

[राज अन्दर दाखिल होता है। उसके हाथ में रूमाल से ढकी एक चीज है जो अनन्नास भी हो सकती है और एटम बम भी।]

लक्ष्मीचन्द—कौन ? · राज, तुम ?

राज—जी, मैं···

लक्ष्मीचन्द—कहो, लाए अनन्नास ?

राज—(चीज को मेज़ पर रखते हुए बहुत सावधानी से। चीज अभी तक ढकी हुई है।) जी हाँ, अनन्नास लाया तो हूँ आपके वास्ते, लेकिन यह एक बड़े अनोखे ढंग का अनन्नास है। शायद आपको पसन्द न आए।

लक्ष्मीचन्द—कपड़ा हटाओ, देखूँ तो···

[राज ड्रामाई अन्दाज से धीरे-धीरे कपड़ा हटाता है। मेज़ पर अनन्नास नहीं, एक एटम बम रखा नजर आता है।]

लक्ष्मीचंद—यह क्या ?···बम ?

राज—(बड़े इतमीनान से) मामूली बम नहीं, एटम बम।

लक्ष्मीचंद—नहीं-नहीं, तुम मज़ाक कर रहे हो।

राज—मज़ाक तो तब होगा सेठजी, जब यह बम फटेगा। तब आपका घर ही नहीं, सारा शहर तबाहो-बरबाद हो जायगा। शहर के चारों तरफ दस-दस मील तक बरसों कभी खेती न हो सकेगी। शहर की आबादी में से अव्वल तो कोई बचेगा ही नहीं, और बच भी गया

तो सिर के बाल झड़ जायँगे। दाढ़ी, मूँछ, पलकें, भवें, सब सफाचट! आप खुद ही सोचिए, कितने फायदे की बात है। नाइयों का धन्दा ही न रहेगा। और फिर ब्लेडों की कीमत भी तो आपकी दुआ से बढ़ती जा रही है। हर तरफ़ बचत-ही-बचत होगी। और सुनिए, जो लोग बचेंगे उनकी औलाद कितनी ही नस्लों तक या तो अन्धी होगी या लँगड़ी। किसी के कान नहीं तो, किसी की नाक ग़ायब…क्यों सेठजी! कितना मज़ा आएगा…हा! हा! हा! हा!

लक्ष्मीचन्द—यह है क्या बला? इसे दूर रखो!

राज—मैंने कहा नहीं, यह एटम बम है। आपका प्यारा एटम बम। (एकदम मजाक छोड़कर गम्भीर हो जाता है) यही वह शैतान का हथियार है। अगर एक बार दुनिया ने इस हथियार को इस्तेमाल करने का फैसला कर लिया, तो समझ लीजिए कि दुनिया ने पाप के सामने अपना सिर झुका दिया है।

लक्ष्मीचन्द—तुम कम्यूनिस्टों जैसी बातें कर रहे हो। मैं अभी पुलिस को बुलाकर तुम्हें गिरफ़्तार कराता हूँ।

राज—जरूर बुलाइए! मगर आपको शायद यह नहीं मालूम कि मैं तो सिर्फ़ प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल के मुँह से निकले हुए शब्दों को दुहरा रहा था।

लक्ष्मीचन्द (खिसियाना होकर)--तुम चाहते क्या हो।

राज—मैं आपसे राजनीति की बातें करने नहीं आया! सेठजी, मैं खुद इन बातों को नहीं समझता। मैं तो सीधा-साधा कवि हूँ। सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि मैं और रजनी, यानी कि रजनी और मैं…मतलब यह कि हम…यानी कि….यानी कि एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और एक-दूसरे से शादी करना चाहते हैं।

लक्ष्मीचन्द—रहो झोपड़ों में और सपने देखो महलों के। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मेरी बेटी का ब्याह किसी लखपति, करोड़पति से होगा।

राज—यूँ कहिए कि अनाज, कपड़ा, तेल, शक्कर तो आप ब्लैक मार्केट में बेचते ही थे। अब अपनी बेटी का ब्लैक मार्केट करने का इरादा है······मगर याद रखिए, रजनी का ब्याह मुझसे होगा।

लक्ष्मीचन्द—यह कभी नहीं हो सकता। अपनी बेटी की किस्मत एक कंगाल कवि के साथ फोड़ दूँ। इससे तो अच्छा है मेरी बेटी मर जाय।

राज—फिक्र न कीजिए, इसका भी इन्तज़ाम हुआ जाता है।

लक्ष्मीचन्द—क्या मतलब?

राज (घड़ी देखते हुए)—मतलब यह कि दस मिनट में यह एटम बम फट जायगा। उसी पल न आप होंगे, न आपकी बेटी। न यह मकान होगा, न यह शहर···न आपकी दुकान होगी, न आपकी गद्दी। न आपके मिल होंगे, न आपका बैंक होगा···न शेयर बाजार होगा और न मैं हूँगा, न मेरी कविता होगी। न कला होगी, न साहित्य···सब झगड़े टंटे, सब परेशानियाँ एकदम दूर हो जायँगी। सब कर्जे अदा हो जायँगे···सौदा बुरा नहीं है सेठजी, सोच लीजिए।

लक्ष्मीचन्द—तुम पागल हो गए हो। अपने साथ दूसरों का भी खून करना चाहते हो।

राज—मैं पागल नहीं हुआ सेठजी! आपका समाज पागल हो गया है, जो रोज सैकड़ों नौजवानों का खून करता है। आपकी दुनिया पागल हो गई है जहाँ इन्सान रोटी के टुकड़े-टुकड़े को तरसता है और कुत्ते दूध डबल रोटी खाते हैं। जहाँ कवि और कलाकार भूखे मरते हैं और दलाल हज़ारों-लाखों कमाते हैं। जिस दुनिया में बच्चों को दूध देने के लिए पैसा न हो—नौजवानों को तालीम देने के लिए पैसा न हो—स्कूल और अस्पताल खोलने के लिए पैसा न हो, पर दस-दस करोड़ ख़र्च करके एक एटम बम बनाया जाता है, वह दुनिया पागल नहीं तो समझदार है? इसीलिए मैं यह एटम बम का अनन्नास आपको भेंट करने के लिए लाया हूँ······

लक्ष्मीचन्द (डरकर)—नहीं नहीं—इसे यहाँ से ले जाओ—दूर ले जाओ—मुझे इससे डर लगता है···

राज (चिढ़ाने के अन्दाज़ में दोहराते हुए)—"एटम कोई हमारे मकान पर थोड़ा ही गिरेंगे। लड़ाई से तो तेरे बाप का भला होने वाला है।" पर सेठजी, यह एटम बम आपके मकान पर ही फटेगा। (घड़ी देखकर) सिर्फ़ पाँच मिनट बाक़ी हैं।

लक्ष्मीचन्द (और डरकर)—बस बस, मुझे क्षमा करो। इसे यहाँ से ले जाओ। मैं तुम्हें हज़ारों रुपए नक़द दे दूँगा···

राज—(हँसकर) एक करोड़पति सेठ की जान की कीमत सिर्फ़ हज़ार रुपए!

लक्ष्मीचन्द—जो माँगोगे, दे दूँगा! दस हज़ार—पचास हज़ार—लाख! मगर इसे यहाँ से ले जाओ!

राज—मुझे आपका रुपया नहीं चाहिए, सेठ लक्ष्मीचन्द! जो दौलत मुझे चाहिए, वह अनमोल है—रजनी की मुहब्बत···(घड़ी देखता है) मगर अफ़सोस, अब तो सिर्फ़ एक मिनट रह गया है।

लक्ष्मीचन्द—(परेशानी से पागल होकर) अच्छा-अच्छा, जैसा तुम चाहते हो, वैसा ही होगा···(बेहोश होकर गिर पड़ता है, मगर बड़बड़ाता रहता है)—तुम रजनी से जब चाहो ब्याह कर सकते हो···

[रोशनियाँ धीमी होते-होते बिल्कुल अँधेरा हो जाता है। जब फिर रोशनी होती है, तो न राज है न एटम बम—सेठ लक्ष्मीचन्द सो रहा है।

दरवाजे पर खटखट, लक्ष्मीचन्द चौंककर आँखें खोलता है, मगर इस बार पहले ही उसके चेहरे पर घबराहट के चिह्न हैं, जैसे कोई भयानक सपना देखा हो।]

लक्ष्मीचन्द—कौन है? आ जाओ अन्दर।

[राज अन्दर आता है। पीछे रजनी है। राज को देखकर लक्ष्मीचन्द और भी घबरा जाता है क्योंकि उसके हाथ में कपड़े से ढकी हुई कोई 'चीज' है, जो अनन्नास भी हो सकती है और एटम बम भी। जैसे-जैसे राज

लक्ष्मीचन्द की तरफ बढ़ता है, वह डर के मारे पीछे हटता जाता है।]

लक्ष्मीचन्द—तुम फिर आ गए ?

राज—(हैरानी से) फिर ? हाँ, मैं आपके लिए···

रजनी—पिताजी, देखिए तो राज कितना अच्छा और मीठा अनन्नास लाया है आपके लिए—

लक्ष्मीचन्द—मैं जानता हूँ—मैं अच्छी तरह जानता हूँ—

राज (ज़रा परेशान-सा होकर)—क्या जानते हैं ?

लक्ष्मीचन्द—कि यह किस किस्म का अनन्नास है····मगर राज, इसकी कोई जरूरत नहीं थी। मुझे तुम्हारी सब बातें मंजूर हैं···मैं तो····दिल से चाहता हूँ कि तुम और रजनी, यानी रजनी और तुम—मतलब यह कि तुम दोनों···

राज—(खुश होकर) तो आप मेरे आने का मतलब समझ गए ? और आप राज़ी हैं ?

लक्ष्मीचन्द—हाँ हाँ···मैं तो खुद तुम्हारे पिता से यह बात करने वाला था। (रजनी से, जो खुश भी है और शर्मा भी रही है) क्यों रजनी, तू राज को पसन्द करती है न ?

रजनी—पिताजी ! आप कितने अच्छे हैं······

[मंगू आता है।]

लक्ष्मीचन्द—क्या है ?

[मंगू सेठ के कान में कुछ कहता है।]

लक्ष्मीचन्द—उससे कह दो कि लक्ष्मीचन्द ने ब्लैक मार्किट का धन्धा छोड़ दिया है······

[मंगू हैरानी से सेठ की तरफ देखता हुआ बाहर जाता है।]

रजनी—(हैरानी से) पिताजी, कब से ?

लक्ष्मीचन्द—आज से बेटी, इसी वक्त से।

राज—तो इस खुशी में और कोई मिठाई नहीं, तो कम-से-कम यह अनन्नास ही खाया जाय।

रजनी—मुझे दो, मैं अभी काटकर वर्क़ में लगाकर लाती हूँ।

[मेज़ पर से उठाने लगती है कि पिता चिल्लाकर रोक देता है—]

लक्ष्मीचन्द—रजनी! इसे हाथ मत लगाना।

रजनी—क्यों, क्या हुआ?

लक्ष्मीचन्द—यह अनन्नास नहीं है, एटम बम है।

राज और रजनी—एटम बम!

रजनी—क्या आप सपना तो नहीं देख रहे, पिताजी?

राज—तो लीजिए, इस एटम बम के दर्शन तो कर लीजिए—

[कपड़ा हटाकर अनन्नास को सेठ लक्ष्मीचन्द की तरफ फेंकता है, जो यह देखकर कि वह एटम बम नहीं है, खुशी के मारे बेहोश हो जाता है।]

रजनी—(दौड़कर) पिताजी!

राज (नब्ज़ देखते हुए)—बिलकुल ठीक हैं। यह खुशी की बेहोशी है। अभी होश आ जायगा।

[दोनों खड़े हो जाते हैं, एक-दूसरे को प्यार भरी नज़रों से देखते हैं।]

राज—चलो रजनी!

रजनी—चलो। मगर कहाँ?

राज—अपना घर बसाने।

रजनी—(खुश होकर) अपना घर!

राज—हाँ, छोटा-सा झोंपड़ा, इधर-उधर बगीचा!

रजनी—मगर एक शर्त है।

राज—वह क्या?

रजनी—उसमें अनन्नास का एक पेड़ जरूर होगा।

राज—एक और शर्त।

रजनी—वह क्या?

राज—वहाँ हम किसी को एटम बम के बीज कभी न बोने देंगे……

[वे साथ-साथ जाते हैं। पर्दा गिरता है।]